जिनके साथ जिया

अमृतलाल नागर

आमुख

प्रतिवर्ष स्वनामधन्य साहित्यकारो की जन्मतिथिया अथवा पुण्यतिथिया आती हैं। यह लेख उसी निमित्त से समय-समय पर लिखे गए थे। स्मृतिया जब किसी एक विशेष धारा मे श्रद्धा और प्रेमवश प्रवाहित होती हैं तो कुछ न कुछ ऐसी बातें सामने आ ही जाती हैं जो यो ध्यान मे नही आती। पाठको को ऐसी स्मृति निधि इन लेखो मे थोडी या बहुत अवश्य मिलेगी। वैसे जिनके साथ जिया हू, अथवा जिन महापुरुषो के सग-साथ से मुझे जीने का ढग मिला है उनके सम्बन्ध मे अपने उद्गारो को एक जगह सजो देने का मोह भी इस पुस्तक के प्रकाशन का एक कारण है। मेरे कनिष्ठ पुत्र चि० शरद ने इधर-उधर बिखरी हुई इस सामग्री को इतने वर्षों तक बटोर और सहेज कर रखा इसके लिए उसका उपकार मानता हू।

चौक, लखनऊ
६ दिसबर, '७२

—अमृतलाल नागर

क्रम

जिनके साथ जिया

प्रसाद : जैसा मैंने पाया

प्रसाद जी से मेरा केवल बौद्धिक संबंध ही नही, हृदय का नाता भी जुड़ा हुआ है। महाकवि के चरणो मे बैठकर मैंने साहित्य के संस्कार भी पाए है और दुनियादारी का व्यावहारिक ज्ञान भी। पिता की मृत्यु के बाद जब बनारस मे उनसे मिला था तब उन्होंने कहा था, "भाइयो के सुख मे ही अपने सुख को देखना। हिसाब-किताब साफ रखना। तभी घर के बडे कहलाओगे।" इसी बात को लेकर प्रसाद जी आज भी मेरे जीवन के निकटतम हैं। यो बरसों उनके साथ रहकर अपनापन पाने का सौभाग्य मुझे नही प्राप्त हुआ। सब मिलाकर बीस-पच्चीस बार भेंट हुई होगी। आदरणीय भाई विनोदशकर जी व्यास के कारण ही उनके निकट पहुंच सका। साहित्य की उस गम्भीर मूर्ति को खिल-खिलाकर हसते हुए देखा है। चिन्तन के गहरे समुद्र को चीरकर निकली हुई सरल हंसी उनके सहज सामर्थ्य की थाह बतलाती थी। यही उनका परिचय है जो मैंने पाया है। प्रसाद आशावादी थे, और उनकी आशावादिता का अडिग आधार-स्तम्भ थी उनकी आस्तिकता।

मेरा मन जड होकर भी अभी चेतना से दूर नही गया। पिछली ज्ञान-कमाई के सस्कार नये जीवन के लिए आज भी बल देते है। चारो ओर फैली हुई निराशा और मेरे मन के अवसाद को पीछे ढकेलकर महाकवि का स्वर मेरी क्रियाशीलता को हौसला दिलाता है :

"कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।"

प्रसाद जी के इस दृढ़ विश्वास की पृष्ठभूमि मे उनके जीवन की गम्भीर

अवसान के समय व्रजभाषा के अधिकाश कवियो के पास काव्य के नाम पर कामिनियो के कुचो और कटाक्षों के अलावा और बच ही क्या रहा था। ऐसे कवियो मे जो गरीब होते थे वे मौके-झपे से अपनी नायिकाओं को हथियाने की कोशिश करते थे, और अमीर हुए तो फिर पूछना क्या? रुपयो के रथ पर चढकर नायिकाए क्या, उनके मा-बाप, हवाली-मवाली तक सब कवि जी के दरबार मे जुट जाते थे। इसलिए बडे भाई शम्भूरत्न जी ने इन्हे कविता करने से बरजा। परन्तु प्रसाद की काव्य-प्रेरणा में कोरा जवानी का रोमास ही नही था, उपनिषदो के अध्ययन के कारण ज्ञान से उमगी हुई भावुकता भी थी। इन्ही दोनों विशेषताओं ने प्रसाद को आगे चलकर रहस्यवादी कवि बनाया। परन्तु रहस्यवादी के नाते वे उलझे हुए नहीं थे। प्रसाद का एक सीधा-सादा मार्ग था जिसपर चलकर उन्होंने अपनी महाभावना का स्पर्श पाया।

प्रसाद चोरी से कविताए किया करते थे, इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हे अपनी लगन की बातो को चुराकर अपने तक ही रखने की आदत थी। यह आदत सुसस्कारो का प्रभाव पाकर मनुष्य को अपनी लगन मे एकान्त निष्ठा प्रदान करती है। प्रसाद की साहित्य-साधना मे हर जगह निष्ठा की पक्की छाप है। कवि, नाटककार, कहानी-उपन्यास-लेखक और गम्भीर निबध-लेखक—किसी भी रूप मे प्रसाद को देखिए—उनकी चिन्तन-शक्ति साहित्य के सब अगो को समान रूप से मिली है। रचना छोटी हो या बडी निष्ठावान साहित्यिक के लिए सबका महत्त्व एक-सा है।

बीसवी शताब्दी के पहले दस-बारह वर्ष भारत मे राजनीतिक, सास्कृतिक और सामाजिक चेतना की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण थे। वह सारा महत्त्व युवक प्रसाद के भावुक हृदय और उर्वर मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया था। विशेष प्रकार के सस्कारो मे पलने वाले युवक ऐसी अवस्था मे आम तौर पर अतीत के गौरव से भर उठते हैं। वैसे तो हर जगह के निवासी को अपने देश और उसके इतिहास से बहुत प्यार होता है, पर इस देश मे एक अजीब जादू है। हमारे इतिहास की परम्परा महान है, जीवन की अनेक दिशाओं में हम अपने ढग से पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। यह चेतना बीसवी शताब्दी के शैशव काल मे स्वातन्त्र्य गगा की नई लहर से प्रसाद ऐसे मनीषी महाकवि का हृदय अभिषिक्त न करती तो और किसका करती?

साधना बोल रही है। परीक्षा की कठिनतम घड़ियों में भी उनकी आस्थावा
अडिग रही, उनका कर्मयज्ञ अटूट क्रम से चलता रहा। पिता और बड़े भा
स्वर्गवास के बाद दुनियादारी के क्षेत्र में उन्हें कठिन से कठिन परिस्थि
का सामना करना पड़ा। पुराने घराने के नाम और साख का प्रश्न, कर्ज
बड़ा बोझ, कुटुम्बियों के कुचक्रों की दुश्चिन्ता—इन कठिन समस्याओं के
में जकड़े हुए सत्रह वर्ष के युवक प्रसाद को जो शक्ति उबारती रही, वह
उनकी अनवरत साहित्य-साधना, उनकी निष्ठा। विषम परिस्थितियों के
हुए भी प्रसाद पागल न हुए, कुचक्रियों से वैर साधने के लिए स्वयं कुचक्री
न बने, दुनियादारी के दलदल में पूरी तौर पर फमकर भी हिम्मत न हारे,
अपनी 'स्पिरिट' को तरोताजा रखने के लिए उन्होंने पठन-पाठन और सा
रचना की वृत्ति को अपनाया—इस बात को समझने के लिए हमें उनके व
वरण और उनके सस्कारो को समझना होगा।

धनी और कीर्तिशाली घराने मे उन्होंने जन्म पाया। दानियों के घ
जन्म लेनेवाला युवक किसीके आगे हाथ नही पसार सकता। इसलिए
परिस्थितियों ने घेरकर उन्हे स्वावलम्बी बनाया। इसके लिए सौभाग्यवश
बचपन मे अच्छे सस्कार प्राप्त हो चुके थे। अच्छे शिक्षक द्वारा वेदो-उप
का अध्ययन काशी के धर्मनिष्ठ घराने के छोटे उत्तराधिकारी के एकान्त
को विचारो की स्फूर्ति से भरता रहा। बुरे समय मे आस्तिक मनुष्य स्वाभा
रूप से उदारचेता हो जाता है। उसकी करुणा भक्ति का रूप धारण
विश्वात्मा के प्रति समर्पित होती रहती है। सत्रह वर्ष की अवस्था मे
प्रसाद जी घर के बड़े बनकर दुनियादारी की कठिन कसौटी पर चढ़े तब
विद्याभ्यास का क्रम चल ही रहा था। पढा हुआ पाठ तत्काल ही मन भर
काम आ गया। उनका चिन्तन ठोस बना। 'कामायनी' के महाकवि का प
त्कर्ष जीवन की पहली कठिनाइयों की शिला पर विधना की लेखनी की
अंकित हो गया था। उनका दार्शनिक रूप, उनका कवि-हृदय और व
साहित्य-साधना का प्रारम्भिक अभ्यास इन्ही बुरे दिनो मे विकसित हुआ।

प्रसाद जी की कविता चोरी-छिपे शुरू हुई। उन दिनो बड़े घर के ल
का कविता आदि करना बड़ा खराब माना जाता था। लोगो का ख्याल थ
इससे लोग बरबाद हो जाते है। और वाकई बरबाद ही हो जाते थे। रीति

अवसान के समय व्रजभाषा के अधिकाश कवियो के पास काव्य के नाम पर कामिनियो के कुचो और कटाक्षों के अलावा और बच ही क्या रहा था। ऐसे कवियो मे जो गरीब होते थे वे मौके-झप्पे से अपनी नायिकाओ को हथियाने की कोशिश करते थे, और अमीर हुए तो फिर पूछना क्या? रुपयो के रथ पर चढकर नायिकाए क्या, उनके मा-बाप, हवाली-मवाली तक सब कवि जी के दरबार मे जुट जाते थे। इसलिए बड़े भाई शम्भूरत्न जी ने इन्हे कविता करने से बरजा। परन्तु प्रसाद की काव्य-प्रेरणा मे कोरा जवानी का रोमास ही नहीं था, उपनिषदो के अध्ययन के कारण ज्ञान से उमगी हुई भावुकता भी थी। इन्ही दोनो विशेषताओ ने प्रसाद को आगे चलकर रहस्यवादी कवि बनाया। परन्तु रहस्यवादी के नाते वे उलझे हुए नही थे। प्रसाद का एक सीधा-सादा मार्ग था जिसपर चलकर उन्होंने अपनी महाभावना का स्पर्श पाया।

प्रसाद चोरी से कविताए किया करते थे, इससे यह सिद्ध होता है कि उन्हे अपनी लगन की बातो को चुराकर अपने तक ही रखने की आदत थी। यह आदत सुसस्कारो का प्रभाव पाकर मनुष्य को अपनी लगन मे एकान्त निष्ठा प्रदान करती है। प्रसाद की साहित्य-साधना मे हर जगह निष्ठा की पक्की छाप है। कवि, नाटककार, कहानी-उपन्यास-लेखक और गम्भीर निबध-लेखक—किसी भी रूप मे प्रसाद को देखिए—उनकी चिन्तन-शक्ति साहित्य के सब अगो को समान रूप से मिली है। रचना छोटी हो या बड़ी निष्ठावान साहित्यिक के लिए सबका महत्त्व एक-सा है।

बीसवी शताब्दी के पहले दस-बारह वर्ष भारत मे राजनीतिक, सास्कृतिक और सामाजिक चेतना की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण थे। वह सारा महत्त्व युवक प्रसाद के भावुक हृदय और उर्वर मस्तिष्क ने ग्रहण कर लिया था। विशेष प्रकार के सस्कारो मे पलने वाले युवक ऐसी अवस्था मे आम तौर पर अतीत के गौरव से भर उठते हैं। वैसे तो हर जगह के निवासी को अपने देश और उसके इतिहास से बहुत प्यार होता है, पर इस देश मे एक अजीब जादू है। हमारे इतिहास की परम्परा महान है; जीवन की अनेक दिशाओ मे हम अपने ढग से पूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं। यह चेतना बीसवी शताब्दी के शैशव काल मे स्वातन्त्र्य गगा की नई लहर से प्रसाद ऐसे मनीषी महाकवि का हृदय अभिषिक्त न करती तो और किसका करती?

प्रसाद जी ने मुझे भी एक ऐतिहासिक प्लाट उपन्यास लिखने के लिए दिया था। उस दिन दो-ढाई घंटे तक बातें होती रहीं। भाई ज्ञानचन्द जैन भी मेरे साथ थे। उपन्यास, नाटक और कहानियो मे घटनाओ, चरित्रों या चित्रों के घात-प्रतिघात की प्रणाली मनोवैज्ञानिक आधार पाकर किस प्रकार सप्राण हो उठती है, यह उस दिन प्रसाद जी की बातो मे जाना। वे बातों को बडी सहूलियत के साथ समझाते थे। उन्होंने किसी पुस्तक से खोजकर 'कलियुग राज वृत्तान्त' नामक ग्रन्थ के कुछ श्लोक सुनाए और लिखवा दिए। उन दिनों, वे 'इरावती' लिख रहे थे। वे रूलदार मोटे कागज़ पर लिख रहे थे। फुलस्केप कागज़ को बीच से कटाकर उन्होने लम्बी स्लिपें बनाई थी। उन्ही स्लिपो मे से एक पर वे श्लोक मैंने लिख लिए। चन्द्रगुप्त प्रथम का कुमार देवी और नेपालाधीश की सुता के साथ विवाह होने का राजनीतिक इतिहास ही उन श्लोको मे अंकित था।

मैंने उत्साह मे भरकर उन्हे वचन दिया कि जाते ही लिखने बैठ जाऊगा।

सन् छत्तीस मे जब वे प्रदर्शनी देखने के लिए लखनऊ आए तब मैं उनसे मिला था। मेरे वचन देने के लगभग साल-भर बाद उनसे यह पहली भेंट हुई थी। उस साल उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था—भरा हुआ मुह, कान्तियुक्त गौर वर्ण, चश्मे और माथे की रेखाओ की गम्भीरता उनकी सरल हसी के साथ घुलमिलकर दिव्य रूप धारण करती थी। मैंने प्रणाम किया, उन्होंने हसते हुए उत्तर मे कहा, "कहिए, मौज ले रहे हैं?"

यह मेरी जोशीली प्रतिज्ञा का ठण्डा पुरस्कार था। बरसो बाद एक फिल्म-कम्पनी के लिए उस प्लाट के आधार पर मैंने एक सिनेरिओ तैयार किया था। जहा तक मेरी धारणा है, कहानी अच्छी बनी थी। सन् '४५ मे लडाई खत्म होते ही कास्ट्यूम पिक्चरो का निर्माण कार्य एकदम से बद पड गया। वह कहानी उनके तात्कालिक उपयोग की वस्तु न रही। इसके साथ ही साथ वह मेरे किसी काम की न रही। वह बिक चुकी थी। अपना वचन न निभा पाने की लज्जा से आज भी मेरा मस्तक नत है। शायद यह लज्जा किसी दिन मुझे कर्तव्य-ज्ञान करा ही देगी और मैं कृतकृत्य हो जाऊगा।

प्रसाद जी जैसे उदार महापुरुष की याद आज के दिनो मे और भी अधिक आती है जब कि दूसरी लडाई के अन्त मे नाटकीय रूप से अवतरित होकर

एटम बम ने सबसे पहले मानव-हृदय की उदारता का ही संहार कर डाला। इसी एटम बम की संस्कृति में पले हुए मुनाफाखोरी और एक सत्ताधिकार के संस्कार आज जन-मन पर शासन कर रहे हैं, पुस्तकालय सूने पडे हैं। सिनेमाहाल मनोरंजन के राष्ट्रीय तीर्थ बन गए हैं। गली-मोहल्लों में प्रेम का सस्ता संस्करण फैल गया है। एक युग पहले तक जहां मैथिलीशरण की 'भारत-भारती' और प्रसाद के 'आंसू' की पंक्तियां गाते-गुनगुनाते हुए लोग शिक्षित मध्यम वर्ग के नवयुवकों में अक्सर मिल जाते थे, वहां अब प्रसाद का साहित्य पढने वाले शायद मुश्किल से मिलें, उनकी बात जाने दीजिए जिन्हें परीक्षा से मजबूर होकर प्रसाद को पढना ही पडता है। एटम बम की संस्कृति का हमारी सभ्यता पर यह प्रभाव पडा है।

[१६५०]

शरत् के साथ बिताया कुछ समय

याद आता है स्कूल-जीवन मे, जब मे उपन्यास और कहानिया पढने का शौक हुआ, मैंने शरत् बाबू की कई पुस्तकें पढ डालीं। एक एक पुस्तक को कई-कई बार पढा। और आज जब उपन्यास अथवा कहानी पढना मेरे लिए केवल मनोरंजन का साधन ही नही, वरन् अध्ययन का प्रधान विषय हो गया है, तब भी मैं उनकी रचनाओं को अक्सर बार-बार पढा करता हू। उनकी रचनाओं को मूल भाषा मे पढने के लिए ही मैंने बगला सीखी। सचमुच ही, मैं उनसे बहुत ही प्रभावित हुआ हू।

उनके दर्शन करने मैं कलकत्ता गया। परिचय होने के बाद, दूसरे दिन जब मैं उनसे मिलने गया, मुझे ऐसा मालूम पडा जैसे हम वर्षो से एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह से जानते हैं।

इधर-उधर की बहुत-सी बाते होने के बाद एकाएक वह मुझसे पूछ बैठे, 'क्या तुमने यह निश्चय कर लिया है कि आजन्म साहित्य-सेवा करते रहोगे ?"

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "जी हा।"

वे बोले, "ठीक है। केवल इस बात का ध्यान रखना कि जो कुछ भी लिखो, वह अधिकतर तुम्हारे अपने ही अनुभवो के आधार पर हो। व्यर्थ की कल्पना के चक्कर मे कभी न पडना।"

आरामकुर्सी पर इतमीनान के साथ लेट हुए, सटक के दो-तीन कश खीचने के बाद वह फिर कहने लगे, " कालेज मे मुझे एक प्रोफेसर महोदय पढाते थे। वह सुप्रसिद्ध समालोचक भी थे। कालज से बाहर आकर मैंने देवदास, परिणीता, बिन्दूरछेले (बिन्दु का लडका) आदि कुछ चीजें लिखी। लोगो ने उन्हे पसन्द भी किया। एक दिन मार्ग मे मुझे वे प्रोफेसर महोदय मिले। उन्होंने मुझसे कहा, 'शरत्, मैंने सुना है, तुम बहुत अच्छा लिख लेते हो। लेकिन भाई, तुमने अपनी कोई भी रचना मुझे नही दिखलाई।'

" सकोचवश मैंने उन्हे उत्तर दिया, 'वे कोई ऐसी चीज़ें नही, जिनसे आप ऐसे पण्डितों का मनोरजन हो सके। उनमे रक्खा ही क्या है ?'

" उन्होने कहा, 'खैर, मैं उन्हे कही से लाकर पढ लूगा। मुझे तो इस बात की बडी प्रसन्नता है कि तुम लिखते हो। परन्तु शरत्, मेरी भी दो बातें हमेशा ध्यान मे रखना। एक तो कभी किसीकी व्यक्तिगत आलोचना न करना और दूसरे, जो कुछ भी लिखना वह तुम्हारे अनुभवों से बाहर की चीज़ न हो।' कहते-कहते उन्होंने एक क्षण के लिए अपनी आखें बन्द कर ली। फिर वे मेरी ओर देखकर बोले, 'यही दोनों बातें मैं तुम्हे भी बतलाता हू, भाई।' "

किसी एक बात को बहुत आसानी के साथ कह जाना, उनकी विशेषता थी। बातचीत करते-करते वे हास्य का पुट इस मज़े मे दे जाते थे, जैसे कोई गम्भीर बात कह रहे हो।

ग्रामोफोन पर इनायतखा सितारिये का रेकार्ड बज रहा था। आखीर मे उसने अपना नाम भी बतलाया। वे मुस्कराए, फिर हुक्के का कश खीचते हुए बोले, "भाई, तबीयत तो मेरी भी करती है कि मैं अपना रेकार्ड भरवाऊ। और आखीर मे मैं भी इसी लहज़े के साथ कहू, मेरा नाम है, श्रीशरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय।"

मस्ती, भोलेपन और स्नेह की वे सजीव मूर्ति मालूम पडते थे। दुबला-पतला, छरहरा बदन, चादी-से चमकते हुए उनके सिर के सफेद बाल, उन्नत ललाट, लम्बी नाक और बडी-बडी आखें—उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी।

हिन्दी पर बात आते ही उन्होंने कहा, "तुम लोग अपने साहित्य-सम्मेलन का सभापति किसी साहित्य-महारथी को न बनाकर, राजनीतिक नेताओं को क्या बनाया करते हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "हिन्दी मे स्वयभू कर्णधारो का एक ग्रुप है जो अपनी तबीयत से यह सब किया करता है, वरना हमारी हिन्दी मे भी प्रेमचन्द, जयशकर 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, निराला आदि कुछ ऐसे व्यक्ति है, जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।"

उन्होंने कहा, "हमारे यहा बगाल मे भी अधिकतर साहित्य-सम्मेलन के सभापति बडे-बडे ज़मीदार ही बनते रहे हैं, लेकिन यह बात मुझे पसन्द नहीं। जिन्हे साहित्य शब्द के वास्तविक अर्थ का ही ज्ञान नही, उन्हे सम्मेलन का

सभापति बनाना महज हिमाकत है।"

प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में एक बार बातचीत चलने पर, उन्होंने मुझसे कहा था, 'वे बहुत अच्छे आदमी थे। मैं उनसे दो-तीन बार मिला हूं। उन्होंने मुझे बतलाया था कि हिन्दी में लेखकों को अधिक पैसा नहीं मिलता। बंगला में भी पहले यही हाल था। अब सुधर चला है। देखो न, साहित्य-सेवा के बल पर ही आज मैं भगवान की दया से दो कोठियां, मोटर, टेलीफोन आदि खरीद सका हूं।"

उनकी बातों से मैंने कई बार यह अनुभव किया कि उनमें स्नेह की मात्रा अधिक थी। कई बार बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझसे कहा, 'देखो अमरीत, तुम अभी बच्चे हो, फिर तुम्हारे सिर से तुम्हारे पिता का साया भी उठ चुका है। दुनिया ऐसे आदमियों को हर तरह से ठगने की कोशिश किया करती है। तुम्हारे साथ गृहस्थी है। इसीसे मैं तुमसे यह सब कहता हूं।···और इस बात को हमेशा ध्यान में रखना कि अगर तुम्हारे पास चार पैसे हों तो अधिक से अधिक तुम उन्हीं चारों को खर्च कर डालो, लेकिन कभी किसीसे पांचवां पैसा उधार न लेना। यह भी मेरे उन्हीं प्रोफेसर महाशय का उपदेश है।"

शरत् बाबू के जीवन में कितने ही परिवर्तन आए। उन्हें अनेकों परिस्थितियों का सामना करना पड़ा—यह बात तो प्राय बहुतों को मालूम है। हुगली जिले में उनका एक पुरखों द्वारा बनवाया हुआ मकान है, परन्तु वहां वे बहुत कम जाया करते थे। कलकत्ते के कालीघाट पर 'मनोहर पुकुर' नामक स्थान में उन्होंने अपनी एक कोठी बनवाई।

हवड़ा से बत्तीस मील दूर, बी० एन्० आर० लाइन पर 'देउल्टी' स्टेशन से लगभग दो मील और आगे 'पानीत्रास' नामक एक गांव है। देउल्टी स्टेशन से एक कच्ची सड़क प्राय सीधी ही वहां तक चली गई है। आसपास दोनों तरफ या तो खेत अथवा तलैया हैं। कच्चे-सुन्दर मकान, परचून की, करघा बिननेवाले की, पान सिगरेट, चाय-बिस्कुट आदि की दूकानें, एक पक्का छोटा-सा स्कूल, केले और खजूर के पेड़ आदि बड़े अच्छे लगते हैं। एक पगडण्डी से उतरकर सामने ही डाक्टर बाबू की सफेद रंग से पुती हुई झोंपड़ी (दवाखाना)—सामने ही से एक मेज, एक कुरसी, एक लम्बी तिपाई और दो अलमारियां दिखाई पड़ती हैं।

दवाखाने के दोनों तरफ तलैया हैं। यह सब कुछ देखने से आदमी सहज ही मे समझ जाएगा कि यह शरत् का देश है। उससे लगभग दो फरलाग और आगे चलकर पक्का दो मंजिला मकान है। फाटक के ठीक सामने ही कमलों से भरी हुई एक पुष्करिणी, और बगले के बायी ओर विशाल 'रूपनारायण' नद बहता है। यही शरत् बाबू का गाववाला, अपना बनाया हुआ मकान है। वे अधिकतर यही रहना पसन्द करते थे।

उन्होंने मुझे अपनी लाइब्रेरी दिखलाई, बहुत काफी किताबें हैं।

"देखो अमरीत, यह मेरी मेज़ है। इसीपर मैंने अपनी प्राय सभी किताबें लिखी हैं।"—ग्राम के डण्डे मे लकडी का एक चौडा तख्ता एक कोने से पिरोया हुआ था। आरामकुर्सी पर बैठकर वह प्राय उसीपर लिखा करते थे।

बगले के बरामदे मे 'रूपनारायण' नद के सामने ही बैठना उन्हे पसन्द था।

वह बडे चाव और उत्साह के साथ मुझे एक-एक चीज दिखलाते थे।

एक बार उन्होंने मुझे बतलाया कि अपने जीवन मे उन्होंने दुख का दो बार आन्तरिक अनुभव किया है।

सन् १६१० ई० मे जब शरत् बाबू रगून मे रहते थे, एक बार उनके मकान मे आग लग गई। उसमे उनकी एक बहुत बडी लाइब्रेरी तथा एक अधूरा लिखा हुआ उपन्यास जलकर खाक हो गया था।

दूसरी बार सन् '१५-'१६ के लगभग उनकी एक और किताब नष्ट हो गई। शरत् बाबू का वह उपन्यास पूरा लिखा जा चुका था, केवल एक अन्तिम पैराग्राफ लिखने को शेष रह गया था, एक दिन उन्होंने उसे पूरा कर डालने के लिए बाहर निकालकर रखा। वह सोच रहे थे कि इसकी समाप्ति किस तरह हो। उन्होंने चाय बनाई, पी, और फिर उसे सोचते-सोचते ही वह शौच के लिए चले गए।

उन दिनो उनके पास एक कुत्ता था। उसकी यह अजीब आदत थी कि सामने जो चीज़ पाता, उसे नष्ट कर डालने की चेष्टा करता था। शरत् बाबू इसी कारण जब कभी कमरे के बाहर जाने लगते, तभी उसे भी बाहर निकालकर कुण्डी चढा देते थे। लेकिन उस दिन वह उसी ध्यान मे सब कुछ खुला हुआ छोडकर, ऐसे ही चले गए।

पाखाने से लौटकर उन्होंने देखा, पूरा उपन्यास टुकडे-टुकडे होकर कमरे मे

बिखरा पड़ा था, और कुत्ता बैठा हुआ उसका अन्तिम पृष्ठ फाड़ रहा था।

यह कथा सुनाते हुए उनकी आंखों में आसू छलछला उठे। कुछ भर्राए हुए स्वर में उन्होंने मुझसे कहा था—"अमरीत, आज भी जब उसके सम्बन्ध मे सोचता हू तब यह खयाल आता है कि वह प्रकाशित होने पर मेरी सर्वोत्तम रचना कही जाती। मैंने छह महीने मे बडी सलग्नतापूर्वक उसे समाप्त किया था।"

मरने से लगभग डेढ महीने पहले मैं उनसे मिलने पानीवाश गया था। तब वे सूखकर काटा हो चुके थे। उन्हे सग्रहणी की शिकायत हो गई थी। जो कुछ खाते वह हजम नही होता था—यहा तक कि 'क्वेकर-ओट्स' भी नही।

मुझे देखकर बहुत खुश हुए, कहा, "तुम्हारे आने से मुझे बहुत खुशी हुई।"

मैंने अनुभव किया, तब भावुकता की मात्रा उनमे बहुत अधिक बढ गई दिखाई पड़ती थी।

उन्होंने मुझसे कहा, "अब इस जीवन मे मुझे और कोई भी लालसा बाकी नही रही। यह शरीर भी प्रायः निर्जीव ही-सा हो चुका है। मैं बहुत थक गया हूं। यमराज मुझे जिस वक्त भी 'इन्विटेशन-कार्ड' भेजेंगे मैं उसी वक्त, निस्संकोच जाने के लिए तैयार बैठा हूं।"

थोड़ी देर चुपचाप बैठे रहने के बाद वे बोले, "इच्छा होती है कि जलवायु के परिवर्तन के लिए मैं बगाल छोडकर बाहर जाऊ। लेकिन किसी एक जगह जमकर रहने की तबीयत नही होती। सोचता हूं ट्रेन ही ट्रेन घूमू। अधिक से अधिक हरएक जगह एक-एक, दो-दो दिन ठहरता हुआ।"

मैंने कहा, "यह तो शायद आपके लिए, इस वक्त ठीक न होगा। आप बहुत कमजोर हो रहे हैं।"

उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। चुपचाप आखें बन्द किए हुए कौच पर लेट-सा गए।

लौटते समय, शाम को जब मैं उनके चरण चूमकर, स्टेशन जाने के लिए पालकी पर बैठने लगा, वे बोले, "ठहरो अमरीत, मैं तुम्हे इस वक्त 'रूपनारायण' की शोभा दिखलाना चाहता हूं।"

पालकी से उतरकर मैं उनके साथ उसके किनारे तक गया।

आकाश मे तारे छिटक रहे थे। उस दिन शायद पूर्णिमा भी थी।

हाथ का इशारा कर वह मुझे बतला रहे थे, "जब बाढ़ आती है, पानी मेरे बगले की सतह को छूता है, तब मुझे बहुत अच्छा मालूम होता है।"

कौन जानता था, उस दिन, अन्तिम बार ही, 'रूपनारायण' के तट पर खड़ा हुआ मैं उस महान् कलाकार के व्यक्तित्व का दर्शन कर रहा था।

[१९३८]

रससिद्ध कवीश्वर : सनेही जी

अखबारो मे आचार्य सनेही जी के अस्वस्थ होकर अस्पताल मे भरती किए जाने का समाचार पढा। जी चाहा कि जाकर उनके दर्शन कर आऊ पर 'गृह कारज नाना जजाला' मे फसकर घर से दो कदम दूर कानपुर तो न जा पाया, हा कार्यवशात् दो दिनो के लिए दिल्ली जरूर पहुच गया। मनोहर श्याम जोशी ने कहा, "आप तो इतने पास रहते हैं, एक दिन हमारे लिए सनेही जी से मिल आइए।" सुनकर लगा कि नई पीढी मेरी मलामत कर रही है। कवि न होने पर भी पूज्य सनेही जी महाराज ने मुझे स्नेह प्रदान किया है। हिन्दी-भाषी समाज के प्रति उनके बडे उपकार हैं। आधुनिक विराट कवि-सम्मेलनो की परम्परा के इस बाबा आदम ने हमारे जनसाधारण के मानस को न केवल राष्ट्रवादी भावधारा ही से आप्लावित किया बल्कि खडी बोली की कविता को भी प्रतिष्ठा दिलाई। 'सुकवि' सम्पादक के रूप मे सनेही जी ने उन दिनो सुक-वियो की एक अच्छी-खासी बटालियन ही अग्रेजो और हमारे अज्ञान से मोर्चा लेने के लिए खडी कर दी थी। सनेही-त्रिशूल के गीत राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनो मे निकलनेवाली प्रभात-फेरियो मे खूब गाए जाते थे।

वाग्देवी ने मुझे कवि होने का वरदान नही दिया। इस कमी को मैंने कविता का पाठक और श्रोता बनकर पूरा किया है। पढने का शौक मुझे बच-न से ही है, अकेले मे सस्वर काव्य-पाठ करने मे मुझे बडा आनन्द मिलता ा। एक समय मे अनेक अच्छे-अच्छे कवियो की अनेक रचनाए मुझे याद भी ी। पूज्य सनेही जी की एक बहुत पुरानी कविता 'अशोक वाटिका में सीता' की ुछ पक्तिया इस समय भी याद आ रही हैं :

> "मनोहर संकपति की वाटिका थी,
> प्रकृति रंगस्थली की नाटिका थी।

महा छवि जाल फूलो के चमन थे,
उलझते भौंर-से जाकर नयन थे,
घटा घनघोर घिरती आ रही थी,
हरित छवि हर दिशा मे छा रही थी।

सखी ने जब कहा, घनश्याम आये,
नयन खोले समझ कर राम आये,
जिधर देखा उधर ही श्याम छवि थी,
हृदय मे भी भरी श्रीराम छवि थी।"

इसी तरह कर्ण की मृत्यु पर दुर्योधन के विलाप वाली उनकी कविता की कुछ पक्तिया भी मुझे अब तक याद है

"नभ असित धरा पै काल-सा छा रहा था,
रविरथ द्रुतगामी भागता जा रहा था।
खग मृग अकुलाए भीत-से हो रहे थे,
शिव-अशिव कुवाणी बोलते रो रहे थे।"

प० गया प्रसाद शुक्ल सनेही, यह नाम हिन्दी-भाषी क्षेत्र मे विशाल जन-समूह वाले कवि-सम्मेलनो की परम्परा के महान सस्थापको मे शीर्षस्थ है और अमर भी। अपने लोकप्रिय 'सुकवि' पत्र के द्वारा भी जन-मन मे खडी बोली के सस्कार जगाने और नई भाव-चेतना प्रतिष्ठित करने मे श्रद्धेय सनेही जी प्रात स्मरणीय आचार्य द्विवेदी जी महाराज के कमाण्डर-इन-चीफ रहे हैं। सनेही जी के नेतृत्व म होनेवाले पुराने कवि-सम्मेलनो मे, जन-समुद्र की एक बूद बनकर, उन्हे देखने-सुनने का मुझे अनेक बार सौभाग्य-लाभ हुआ था। उस समय की जन-धारणा यह थी कि आचार्य सनेही जी जिस कवि-सम्मेलन मे अपनी नवरत्नवत् शिष्य मण्डली लेकर पहुच जाए, वहा फिर और कोई पहुचे या न पहुचे रसगगा बहेगी ही।

आचार्य का त्रिशूल रूप भी, किसी अगले जमाने मे सही समाजवादी दृष्टि-कोण से लिखने वाला जन साहित्य का कोई इतिहासकार अवश्य ही बडे आदर से याद करेगा, भले ही आज की बौद्धिक अराजकता मे उसे भुला दिया गया

हो। प्राणवन्त भावों और शब्दो का सोमरस पिलाकर त्रिशूल जी ने हजारो-लाखो लोगों को स्वतन्त्रोन्मत्त देशभक्त बनाया था। त्रिशूल जी के अनेक गीत आन्दोलन-काल की प्रभात-फेरियो मे गाए जाते थे। सन् '२४ मे 'माधुरी' के तीन अकों मे उनकी एक लम्बी कविता 'आईन ए हिन्द' प्रकाशित हुई थी, जो हिन्दी के साथ ही साथ उन्हे उर्दू शैली के कवियो मे भी उच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। 'आईन ए हिन्द' पढकर मन आज भी फरहरा हो उठता है। अपनी इस कविता को उन्होंने तीन खण्डो मे बाटा है हम पहले क्या थे, हम अब क्या है, और आगे हम क्या होने वाले है। अपना लोभ सवरण न कर पाने के कारण हर प्रश्न-विभाग के कतिपय अशो को यहा उद्धृत कर रहा हू :

वे भी दिन थे कभी, दम भरती थी दुनियां अपना,
था हिमालय की बलदी पे फरेरा अपना।
रंग अपना था जमा, बैठा था सिक्का अपना,
कोई मैदाँ था, वहां बजता था डका अपना।
हमसरी के लिए अपनी कोई तैयार न था,
काम अपने लिए कोई, कहीं दुश्वार न था!

खुशबयां ऐसे थे, जादू का असर रखते थे,
कोई फन बाकी न था, इल्मो हुनर रखते थे।
हम किसी का न कभी खौफो खतर रखते थे,
दिल बला का, तो क़यामत का जिगर रखते थे।
कोई शमशेरो-क़लम मे न था सानी अपना,
पानी पानी हुए दुश्मन, वो था पानी अपना।

दफअतन् रग जमाने का कुछ ऐसा बदला,
भाई भाई से भिडा बाप से बेटा बिगडा।
खानाजगी से हुई घर मे क़यामत बरपा,
एक को दूसरा खा जाने को तैयार हुआ।
तीन तेरह हुए जब हिंद मे यों फूट पडी,
सारी दुनियां की मुसीबत भी यहीं टूट पड़ी।

छाई ग़फ़लत, तो उसे मुल्क ने मस्ती समझा,
चीज बेहद जो गरां थी, उसे सस्ती समझा।
होता वीरान गया बसती है बस्ती समझा,
पस्त होता गया लेकिन नहीं पस्ती समझा।
ग़ार में जाके पड़ा अब है निकलना मुश्किल,
ऐसा बीमार है, जिसका है संभलना मुश्किल।

मादरे हिंद के बच्चों पै मुसीबत आई,
गोलियां गन से चलीं, और क़यामत आई,
खोले घूंघट गए, यों खतरे में इज्जत आई,
हाय अफसोस नहीं फिर भी तो ग़ैरत आई।
उनके पैरों पे रही, रक्खी जो पगड़ी हमने,
पेट के बल चले और नाक भी रगड़ी हमने।

क़ौम की आंखों से परदा-सा लगा हटने अब,
श्री तिलक जी जो डटे लोग लगे डटने अब।

मुल्क जब नशे में आज़ादी के सरशार हुआ,
आगे गांधी जी बढ़े, प्रेम का अवतार हुआ,
दिल में फिर पैदा स्वदेशी के लिए प्यार हुआ,
तारे ज़र फिर हमें चर्खे का कता तार हुआ।
सिक्का मलमल की जगह बैठ गया खादी का,
हर तरफ़ शोर मचा मुल्क में आज़ादी का।

मुतफ़िक होके मुक़ाबिल में जुलोकुल आए,
कोई भी ईजा हो मरने के लिए गुल आए।
होंगे आज़ाद यही कहते हुए गुल आए,
फूल कांटों में खिंचे दाम में बुलबुल आए।
पांव रखना हुआ दुश्वार, हुआ यह रेला,
लग गया जेल में याराने वतन का मेला।...

इस त्रिशूल को भुलाकर कोई स्वाधीन राष्ट्र भला जी सकता है?

कानपुर पहुचने पर ललित (प्रा० ललितमोहन अवस्थी) ने मुझे बताया कि सनेही जी अब पहले से काफी स्वस्थ हैं। उनका वजन भी बारह पौण्ड बढा है। वह खूब प्रसन्न हैं, कहते थे, 'अब तो मैं फिर से कविता लिखने लायक हो चला हू। ललित, इस बार त्र्योदशी के दिन हमारे जन्म-दिवस पर यहीं अस्पताल मे एक कवि-सम्मेलन होना चाहिए। डाक्टर लोग बेचारे बडे भले है, वे यहा सब इन्तज़ाम कर देंगे।" ये बातें सुनकर मन को बडा सन्तोष हुआ, लेकिन अस्पताल पहुचने पर मालूम हुआ कि उनकी तबियत फिर पलट गई है। वह गफलत में पडे है। दस्तो से कमज़ोरी बढ गई। कल तो सारे दिन उन्होंने आख भी नही खोली थी। सनेही जी की पुत्री कृष्णाकुमारी जी के मुख पर चिन्ता की गहरी छाप थी। मैंने ललित से कहा कि एक बार दूर से उनके दर्शन करना चाहता हू। सनेही जी के पुत्र मोहनप्यारे जी तुरन्त हमे भीतर लिवा ले गए।

महाराज सो रहे थे। आखो पर चश्मा चढा हुआ था, चेहरा निर्विकार था। यद्यपि उनका शरीर अब पहले से अधिक कृश हो गया है, तथापि चेहरे पर वही पुराना कसाव, वही रोब है।

"कल से बस इसी तरह पडे है। आज तो बीच-बीच मे आखें खुलती भी हैं, पर कल सारे दिन बेहोश रहे। ग्लूकोज चढा, इजेक्शन लगे, और कैप्सूल भी जाने काहे के दिए जा रहे है।"

"कल तो आख ही नही खोली। दस्त भए, पर इन्हे जर का हौस नहीं था। इधर ऐसे चितन्न हुइ गए रह कि क्या बतावे। दुई-दुई पाउण्ड करि के सोलह पाउण्ड वजन बढा रहा इनका।"

भाई-बहन की बातें कानों मे पड रही थीं। पर दृष्टि सनेही जी महाराज के चेहरे पर ही टिकी रही।

चालीस-बयालीस वर्ष पहले उन्हे एक कवि-सम्मेलन मे पहली बार दूर से देखा था। वह भरा-पूरा कातो मूछो वाला रोबीला चेहरा याद आया। ग्यारह वर्ष पहले उन्होंने अपने सम्बन्ध में लिखा था :

"विश्व मे विचारों के विचरता रहा विवश,
बस गया वहीं पै रहा न मन बस का।

कण्ठो मे विराजा रसिको के फूलमाला हो के,
कुटिल कलेजो मे 'त्रिशूल' हो के अटका।
धाराधर विपदा के बरसे सहस्रधार,
तो भी मेरा धीरज धराधर न धसका।
चसका वही नवरस का है 'सनेही' अभी,
ठसका नहीं मैं हूँ पछत्तर बरस का।"

श्रावण शुक्ला १३ के दिन वह अपनी वय के ८६ वर्ष पूरे करके ८७वें मे प्रवेश करेंगे, पर ऐसा नही लगता कि वह अब भी कहीं से तनिक भी टमके हैं। मोहनप्यारे जी ने जब उनका चश्मा हटाया, तब उनकी आखें खुल गई। बायी ओर नजर गई, ललित को देखा, "अच्छा तुम आए हो।" फिर इधर दृष्टि घूमी, बहन जी ने उनके कान के पास मुह ले जाकर कहा, "नागर जी आए है।"

"हू। पहचान लिया।" चेहरे पर स्नेह-स्निग्धता आई। अपने काले बालो वाले सिर को खुजलाया फिर मेरी ओर देखने लगे, मुसकराकर कहा, "मुझे कोई रोग नही है। बस, खडा नही हो पाता, पैर लडखडाते हैं।"

मैंने उनके कान के पास मुह ले जाकर कहा कि यह कमजोरी भी शीघ्र ही दूर हो जाएगी।

सनेही जी बोले, "कुछ समझ मे नही आया। बिटिया की बात सुनाई पड जाती है। बिटिया!" बिटिया जी ने झुककर उनसे मेरी बात कही। मोहनप्यार जी उनकी सुनने की मशीन लाए, उनके कान मे लगाई, पर उससे उन्ह लाभ न हुआ। 'बिटिया जी' के माध्यम से ही बात आगे बढी। मैंने कहा, "आचार्य द्विवेदी जी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर दौलतपुर मे आपके दर्शन हुए थे।"

"हा, हम गए थे। पर द्विवेदी जी के खास चेले नही गए थे। हमने अपना कर्त्तव्य निभाया।" फिर रुककर कहा, 'द्विवेदी जी ने बडी सेवा की। यह सब उन्हीका वैभव है। वह ऐसों को भी बडा गए जो पद्य तो अवश्य लिख लेन थे, पर कविता नही लिख पाते थे। मैंने काव्य रचा है।"

आवाज मे वही दमखम है। स्मृति अब भी चुस्त-दुरुस्त है। मूड मे आकर कुछ पुराने सस्मरण सुनाने लगे। मैंने डायरी खोली तब बोले—"ये सब बातें कहीं छपा मत दीजिएगा।" कहकर हसे। बिटिया जी के माध्यम से मैंने उन्हे

आश्वासन दिया। गाडी आगे बढी।

अपने दाहिने हाथ पर बाया हाथ फेरते हुए बोले, "बीमारी-बीमारी कुछ नहीं। कल ज़रा निढाल हो गया था, बाकी अभी तक तो हम मालिश कराते रहे, साबुन लगाकर नहाते रहे। बीमारी क्या, बुढापा बढ रहा है।'''होता ही है।''''" फिर आखो मे चमक आई, चेहरा खिला, कहने लगे, "वेणीमाधव खन्ना पुरस्कार मिला करता था उन दिनो। एक बार निर्णायक कमेटी मे टण्डन जी थे, हम थे और'''और'''" तीसरा नाम याद न आया। थोडी देर तक अपनी स्मृति से उलझते रहे, फिर आगे बढ गए, "तीन ही कवि भी थे जिनकी कविताओ का निर्णय होना था। शकर जी—नाथूराम शर्मा 'शकर', हमारे अनूप थे, और राधावल्लभ 'बन्धु' थे। टण्डन जी ने कहा कि सिद्धान्त की बात है, शकर जी को पुरस्कार मिलना चाहिए। खैर, मिल गया। फिर अनूप ने हमसे कहा कि निर्णायको को कविता का ज्ञान नही है। हमने कहा कि पन्द्रह दिनो मे तुमसे अच्छा कवि बना सकते है। और हमने जो कहा सो कर दिखलाया। हितैषी को बना दिया।'''वैसे अनूप भी अच्छे कवि थे। उनके पिता भी अच्छे कवि थे। अनूप मिडिल स्कूल मे पढते थे। मुशी कृपादयाल निगम उन्हे लेकर हमारे पास आए थे। घनाक्षरिया अच्छी लिखी अनूप ने। हितैषी भी बहुत माजकर लिखते थे। दोनो तगडे थे। दोनो ही हमारे सामने चले गए।"

ललित ने उठकर उनके कान मे कहा, "अब आपके जन्म-दिवस पर यहा कवि-सम्मेलन होगा।"

"हा।'''अच्छा है। 'डाक्टर सब बडे भले हैं बेचारे। सरकार ने हमारा यह प्रबन्ध करके बडा उपकार किया।'''हितैषी सौ रुपया महीना बधवा गए थे सो वह भी आता है।"

मैंने कहा, "देश पर आपके इतने उपकार हैं कि उनको देखते हुए आपको मिलनेवाली ये सुविधाए नगण्य-सी लगती हैं।" सुनकर चुप हो गए, चेहरे पर सन्तोष आया।

हम लोग काफी देर बैठे। एक बार उठना चाहा, तो बैठा लिया फिर पुराने सस्मरण चले। अपने पुरवले जनम के न जाने किस पुण्य के कारण मुझे भी कविगुरु का सहज स्नेह प्राप्त हो गया है। जब कभी दर्शन पाए, सदा उनसे स्नेह, ज्ञान और प्रेरणा की प्रसादी लेकर ही लौटा। वे बीसवी सदी मे होने वाले

हिन्दी साहित्य के विकास के जीवित इतिहास हैं । यदि उनके आसपास रहने वाले समझदार नौजवान उनसे पुरानी बातें सुनकर लिख लें तो हमारे इतिहास की बहुत-सी बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित हो जाए। सनेही जी की स्मरणशक्ति अद्भुत है। कानपुर के कोई धनी हिन्दी प्रेमी यदि लगन के साथ उन पुरानी बातों को टेप पर रेकार्ड करा लें तो और भी अच्छा हो।

हमारे निराला जी भी सनेही जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। एक बार उत्तर प्रदेश सरकार की एक शिक्षा फिल्म डाक्यूमेंटरी के लिए, तत्कालीन शिक्षा प्रसार अधिकारी और सुकवि श्री द्वारकाप्रसाद माहेश्वरी निराला जी के कविता-पाठ का सवाक् चलचित्र बनाने की इच्छा से मुझे और डा० रामविलास शर्मा को सिफारिश कराने के लिए उनके यहा ले गए। हमारी प्रार्थना पर आशुतोष निराला जी कृपापूर्वक सदय भी हुए। तब अपनी कविताओं के अलावा उन्होंने विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और बहादुरशाह जफर की रचनाओं के बाद सनेही जी की एक कविता भी सुनाई थी।

पूज्य सनेही जी महाराज ८६ वर्ष के नौजवान है। वे पुराने भारत की सदा-बहार जवानी के जीते-जागते रहस्य है। इस बीमारी मे भी वही तेवर, वही दमखम और मुसकराहट उनके व्यक्तित्व की दिव्य शोभा बनी हुई है। पाच वर्ष पूर्व आचार्य द्विवेदी जन्मशती-समारोह के अवसर पर मैंने दौलतपुर मे उनके दर्शन किए थे। शाम को पडाल के बाहर टहलते हुए उन्होंने एकाएक मेरी ओर घूमकर कहा, "आपने जब मुझे अस्पताल मे देखा था तब भी मैं मुसकरा रहा था और देखिए, अब भी मुसकरा रहा हू।" इस बार फिर अस्पताल मे ही भेंट हुई, लाख लट चुके है मगर मुसकराहट अब भी जवान है। उनकी अपराजेयता, उनका यह 'धीरज धराधर' अब भी अडिग है।

[१९६९]

✕

गढ़ाकोला में पहली निराला जयंती

बसन्त पंचमी के अवसर पर प्रयाग गया था। निराला जी कठिन बीमारी भोगकर उठे थे, सोचा कि इस वर्ष उनके साथ ही उनकी जयन्ती मना लूं। अगले वर्ष यह अवसर आए कि न आए। निराला जी दुर्बल होने पर भी स्वस्थ थे, खूब मग्न थे। लोग पैर छू छूकर उन्हें हार पहनाना चाहते थे और नउआ उनकी दाढ़ी बनाते हुए अपना महत्त्व जतलाकर अपने-अपने हारों को निराला जी के चरणों पर रखने के लिए अच्छों-अच्छों को बड़ी शान से आदेश दे रहा था।

इस बार फिर वसन्त पंचमी आई—निराला जी के निधन के बाद पहली वसन्त पंचमी। पत्र-पत्रिकाओं ने विशेषांक निकाले, जगह-जगह निराला परिषदों का उद्घाटन किया गया, बड़े हो-हल्ले हुए। मरने के बाद दिल्ली के राष्ट्रपति-भवन में भी निराला जी की आरती उतारी गई।

वसन्त पंचमी से छः-सात दिन पहले गढ़ाकोला ग्राम से निराला जी के भतीजे श्री बिहारीलाल त्रिपाठी और उनके अन्य दो चार सगे-सम्बन्धी मेरे यहां आए। वे लोग गढ़ाकोला में निराला जयन्ती मनाना चाहते थे, और इस तौर-तेवर के साथ आए थे कि लाट साहब को वहां ले चला जाए। उनमें से एक बन्धु तो अपने भोलेपन में पूरी स्कीम बखान गए। बोले, "हमने पहले विचार किया कि सीधे लाट साहब के पास चलें। निराला जी के नाम पर 'ना' तो वे कर ही नहीं सकते, और करते भी तो हम कहते कि हम पत्रों में आपकी आलोचना करेंगे। अपनी आलोचना से तो सभी घबराते हैं, सो वो राजी हो जाते।"

मुझे लगा कि ये लोग निरे भोलेपन में अपनी अहंता को तुष्ट करने के लिए निराला जी रूपी लाठी के द्वारा बड़े-बड़ों को हाककर अपने गरब-गुमान के बाड़े में बन्द कर लेना चाहते हैं।

बिहारीलाल जी ने अधिक समझदारी की बातें की। कहने लगे, 'निराला काका हमारे भी तो थे। हम लोग गरीब हैं, पर यथाशक्ति अपने यहा भी निराला काका का उत्सव मनाना चाहते हैं। आप जैसा कहेंगे, वैसा करेंगे।"

मैंने कहा, "इस साल तो किसी भव्य आयोजन के लिए समय नहीं रहा। आप लोग सीधे-सादे ढग से निराला जयन्ती मना लें। अगले वर्ष कोई बडा आयोजन कीजिएगा।"

वे लोग इस बात पर राज़ी हो गए। तय हुआ कि मैं वसन्त पचमी के दिन सुबह पहली बस से पुरवा पहुच जाऊ। वहा से वे लोग मुझे गढाकोला ले जाएगे।

सुबह साढे आठ-नौ तक बस पुरवा पहुच गई। चुनाव के दिन थे ही। बस के अड्डे के पास ही हलवाइयो की दूकानों के अलावा कांग्रेस और जनसघ की चुनाव-दूकाने भी खुली हुई थी। लाल, पीली, सफ़ेद टोपिया नज़र आ रही थीं। लाउडस्पीकर पर 'य कहानी है दीये की और तूफान की, निर्बल से लडाई बलवान की' वाला फिल्मी रेकार्ड बडे ज़ोर-शोर से बज रहा था।

हम बस से उतरे। वहा सब कुछ था, मगर गढाकोला पार्टी के लोग कही नही दिखाई पडे। आध घटे के बाद आखिर बिहारीलाल जी दो अन्य व्यक्तिया के साथ साइकिलो पर आ पहुचे। उन्हे देखकर जान म जान आई। तभी एक दूसरी समस्या उपस्थित हुई। बिहारीलाल जी ने किसीसे बैलगाडी का प्रबन्ध किया था। ऐन समय पर लढापति ने लटा देने से इन्कार कर दिया। पुरवा मे दो-तीन इक्के तो अवश्य खडे थे। पर वे चुनाव के दिनो मे एक खादीधारी-नेतानुमा व्यक्ति को गढाकोला ले जाने के लिए पाच रुपये माग रहे थे।

बिहारीलाल जी बडे असमंजस मे पडे।

मैं स्वय भी थोडे रुपये लेकर ही घर से चला था। इसलिए एक ओर के पाच रुपये रेट पर राज़ी न हुआ।

अब क्या किया जाए! सामने तीन साइकिलें ही नज़र आ रही थीं।

साइकिल चलाना मैं वाजिब ही वाजिब जानता हू। तीस-पैंतीस साल पहले अपने साइकिलधारी मित्रो के दबाव से मैंने यह करतब सीखा था। उन दिनो मैं बहुत मोटा था। इसलिए साइकिल ऐसी सवारी मुझे नापसन्द थी। केवल दोस्तो के साथ सैर करने के लिए कभी-कभी मजबूरन उसका प्रयोग करता

पडता था। किसी फुटपाथ के सहारे साइकिल पर सवार होकर जाया करता। जब उतरना होता तो साइकिल को झुकाकर उतर पडता। सन् '३७ में एक बार मैं साइकिल से गडबडाकर ताजा कोलतार पडी हुई सडक पर गिर पडा था। तब से फिर कभी साइकिल पर चढने का नाम तक न लिया।

लेकिन यहा साइकिल के अलावा और कोई साधन ही नजर न आया। सोचा कि बजरग बली का नाम लेकर अब इसीपर चढा जाए। जो होगा सो देखा जाएगा।

एक जगह टाग उठानने-भर का एक जरा ऊचा-सा मिट्टी का ढूह था, उसके सहारे साइकिल पर सवार हो गया। कच्ची बलुहा सडक पर नहर के किनारे-किनारे हम चल पडे। रास्ते-भर मनाते चले जा रहे थे कि हे राम जी, कहीं नहर मे गिर न पडे जिससे हमारी हसी उडे।

गांव अब आध पौन मील ही दूर रह गया था। तभी एक और विकट समस्या आई। सामने एक-मान बैलगाडिया एक पक्ति मे चली जा रही थी। सोचने लगा इनसे बचकर कैसे निकलूगा। साथी भी शायद मेरी परिस्थिति को समझ गए। आगे बढकर गड़ेवानो को एक ओर हो जाने के लिए हुल्लड मचाने लगे। पर वहा जगह ही न थी। मैं उतर पडा। उन लोगो से कहा, "आप लोग चलिए। हम और बिहारीलाल जी पैदल आते है।"

अपनी साइकिल मुझे दे देने के कारण बिहारीलाल जी एक साइकिल के कॅरियर पर बैठकर आ रहे थे। इससे उनकी भी हड्डी-पसलियां याद आई थी।

पुलिस मे उन्हे नौकरी मिल गई। होते-करते जमादार हो गए। फिर हुवा लाट साहेब के मन चढ गए और उनकी अरदली मे चले गए। "लाट साहेब हमेशा रामसहाय बाबा को अपने साथ-साथ रखते। तो एक बार महिसादल महराज के हिया लाट साहेब गए। महिसादल महराज ने रामसहाय बाबा को देखा तो लाट साहेब से कहा कि इन्हे हमे दे दीजिए, हमारे यहा ऐसा कोई जमादार नहीं है। लाट साहब ने उन्हे दे दिया। रामसहाय बाबा महिसादल मे रहने लगे। फिर साल-भर बाद रामलाल बाबा भी वहीं चले गए।"

बगाल की महिषादल स्टेट मे कान्यकुब्ज ब्राह्मणो के पहुचने की एक कथा मैं लखनऊ मे भी सुन चुका था। यहा रामकृष्ण मिशन मे एक सन्यासी रहते थे। उनका पूर्व नाम था काशीनाथ मालवीय। मिशन के पत्र 'समन्वय' का सम्पादन-कार्य निराला जी के बाद उन्हे ही सौंपा गया था। मालवीय जी उनके पुराने मित्रो मे से एक हैं। उनके कथनानुसार, "महिषादल की एक विधवा रानी थीं। उनका पुत्र बहुत पहले ही मर चुका था। एक दिन एक सन्यासी आया और कहने लगा कि घबराओ मत, तुम्हारा पुत्र नये रूप मे तुम्हे अवश्य मिलेगा। उसका पुनर्जन्म हो चुका है, और वह तुम्हारे पास आएगा। इसके कुछ काल बाद ही एक सन्यासी नवयुवक महिषादल पहुचा। रानी को यह विश्वास हो गया कि वही उनका पुनर्जन्म प्राप्त पुत्र है। उन्होने आदरपूर्वक उसे वहीं रोक लिया, और गद्दी पर बिठाया। वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण था, इसलिए उसके राजा होने पर अनेक कनौजिया ब्राह्मण वहा आकर बस गए।"

सरसो स्वर्ग की लक्ष्मी की तरह खेतो मे अन्तरिक्ष से अन्तरिक्ष तक छाई हुई थी। दायें-बायें जिधर भी दृष्टि घूमती सरसो का पीलापन मन को बाध लेता था।

हम लोग नहर के दाहिनी ओर मुडे। पेडो के झुरमुट के पार मन्दिर का कलश चमक रहा था। यही गढाकोला था। मन में एक फुरफुरी-सी दौड गई। ग्राम गढाकोला, पोस्ट चमियानी, ज़िला उन्नाव को निराला जी अपनी कहानी 'चतुरी चमार' मे सदा के लिए अमर कर चुके हैं। सच तो यह है कि गढाकोला मेरे मन म निराला जी के गाव मे अधिक चतुरी चमार के गाव के रूप मे बना हुआ है। यहा आते ही 'कान्तिका नाऊ' और 'चतुरी चमार' की याद आने लगी।

कलाकार का बडप्पन इसीमे है कि उसमे अधिक पाठको को उसके पात्रो की याद आए।

मुझे अच्छी तरह से याद है। 'सुधा' मे जब पहली बार चतुरी चमार पटा था तो मेरे मन को एक विचित्र ताजगी मिली थी। प्रेमचन्द के अनेक ग्रामीण और छोटी कौम के पात्र मन को प्रभावित करते थे,—तब भी और अब भी। प्रेमचन्द जी के उन पात्रा को पढत समय ऐसा लगता था कि मानो सिनेमा दृश्य मे उन्हे देख रहा हू। लगता था जैसे चतुरी ऐसे लोग सामने ही खडे हो। हो सकता है कि मुझपर यह प्रभाव निराला जी की सगत के कारण पडा हो। 'देवी', 'चतुरी चमार', 'मुकुल की बीवी', 'कुल्ली भाट', 'राजा साहब को ठेंगा दिखाया' आदि निराला जी की ऐसी रचनाए है जिन्हे पटत समय यह नही लगता कि हम कोई गढा हुआ किस्सा पढ रहे हैं। लेखक इन रचनाओ मे अपनेपन का स्पर्श देता है। ये कहानिया अथवा रेखाचित्र दरअसल सस्मरण के रूप मे ही अधिक उभरकर आते है।

खेत पृष्ठभूमि मे छूट गए। बस्ती आने लगी। मिट्टी के कच्चे घर, उनमे भी अधिकाश खण्डहर, गलिया बीच मे धसी और गड्ढो से भरी हुई, घरो के सामने कई जगह मच्छरो के गुच्छो से आच्छादित नावदान, कही गाए, कही बैल और कुत्ते।

गलियो मे चक्कर लगाते हुए हम एक मकान के सामने आ खडे हुए। पुरानी नक्काशी वाले द्वार पर एक कागज चिपका था। उसपर लिखा था 'महाप्राण निराला स्मारक भवन'। मैंने बिहारीलाल जी से कहा, "घबराइएगा मत। आपका यह कागज सगमर्मर से अधिक टिकाऊ सिद्ध होगा।"

वह बेचारे कुछ समझे नही, झेंपकर बोले "क्या करें पडित जी, अपने मन का हौसला पूरा कर लिया। नही तो जौन आप सगमर्मर के पत्थर की बात कर रहे हैं, वहै हमरेउ मन मा रही। आज तो निराला काका सबके हैं पर एक दिन रहा जब निराला काका हमरेहे हमरेहे रहे। इनफ्लुइजा मे हमारे बाप-महतारी मर गए। हम नान्ह-नान्ह रहे। निराला काका चक्की पीसें, हमका बनाय के खवावें, हमका पालें। रामकेसन होरे तौ डलमऊ मा रहत रहें नाना के हिया, औ निराला काका हमरे पास रहै। काकी हमारी गुजर गई रहैं तौ इन्हैं ब्याह के लिए बहुत लोग घेरें, बहुत दखुआ आवें।

एक वाजपेई जी रह । उइ आए औ कहै लगे, 'महाराज, आपकी कुण्डली मा दूसर विहाव लिखा है ।' बाबा कहिन, 'अरे जब हमहे न करब तो कहा ते होई । हमरे चार लरिका ई आय औ रामकेसन औ बिटेवा आय । हम इनही का नहीं पाल सकति हयि । तुम हमका व्याह करै के लिए कहत हौ ।' "

अपनी जन्मपत्री के ग्रह-नक्षत्रो को निराला जी ही पछाड सकते थे । अनेक लोगो ने अनेक बार उनकी कुण्डली देखकर बतलाया कि दूसरा विवाह लिखा है, पर जब निराला जी ही नही करना चाहते थे तो ग्रह-नक्षत्रो की हस्ती ही क्या थी जो उनका विवाह करवा सकते । एक बार जब उनकी बेटी सरोज से उनकी जन्मपत्री फट गई तो निराला जी उसे गगा जी म प्रवाहित कर आए । कहा, "न रहगा बास, और न बजेगी बासुरी ।"

घर के आगे दाहिनी ओर पर एक छोटी-सी खुली जमीन थी । वहा शामियाना लगा था, तखत पडे थे । तखत पर एक चौकी और चौकी पर एक लोहे की कुरसी रखी हुई थी । मैंने बिहारीलाल जी से लखनऊ मे कहा था कि निराला जी का चित्र ले आऊगा । अनेक वर्षों पहले मेरे छोटे भाई प्रख्यात चित्रकार मदन लाल नागर ने प्रयाग जाकर निराला जी का एक छोटा तैल चित्र बनाया था । उसके आधार पर फिर एक बडा तैल चित्र भी उसने बनाया जो अब लखनऊ महापालिका के सग्रहालय मे सुरक्षित है ।

छोटा चित्र अनेक वर्ष हुए निराला जयन्ती के अवसर पर एक कवि महोदय मुझसे मागकर ले गए थे । फिर उन्होंने उसे लौटाया ही नही । मैंने बिहारी-लाल जी को वही चित्र ला देने का वचन दिया था । कवि बन्धु के यहा से चित्र तो खैर मैंने किसी तरह मगवा लिया, पर राम जाने उन्होंने उसे कहा सीलन-पानी म डाल रखा था कि तस्वीर पूरी तौर पर नष्ट हो गई थी ।

बिहारीलाल जी ने उसी चित्र की आशा मे यह सिंहासन सजाकर रखा था । पर अब क्या हो । एक सज्जन बोले, 'धर्मयुग मे निराला जी का चित्र है । उसे ही काटकर किसी लकडी के तख्ते पर चिपका दिया जाए ।"

'धर्मयुग' का अक आया । किसी विद्यार्थी की पट्टी आई । किसीने किसीको लेई बनाने का हुकुम दिया । मैंने कहा, "उसकी आवश्यकता नही । धर्मयुग से चित्र को फाडने की आवश्यकता नही, डोरी ले आइए । सरसा के फूल ले आइए । काम बन जाएगा ।"

मैंने पट्टी पर धर्मयुग के पन्ने उलटकर वह चित्र बाधा, सरसों के फूल चारों ओर से इस तरह से खोंसे कि उनका फ्रेम बन गया। गेंदे के फूल भी आ गए। उन्हें बीचों-बीच में सजाया। ऐसी शोभा आ गई कि क्या कहूं।

बिहारीलाल जी ने अपनी शक्ति-भर बड़ा आयोजन किया था। आस-पास के गावों में लोगों को न्यौता भिजवाया था। झइयम-झइयम बाजा भी मंगवाया था। ऐसा लगता था कि जैसे रामसहाय त्रिपाठी के घर आज ही सूर्य-कुमार का जन्म हुआ हो। मगरायर ग्राम के एक युवक ने कहा भी कि आज निराला जी की पहली जन्मगांठ है। एक तरह से यह भी सच था। उनके गांव में उनका यह पहला ही जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। निराला जी पैदा बंगाल में हुए, इसलिए उनके जन्मोपलक्ष्य में जो कुछ भी खुशियाली हुई होगी, वह महिषादल में ही।

शामियाने के नीचे, बल्कि यों कहूं कि उसके बाहर एक पुरुष बैठे थे। किसीने बताया कि वे चतुरी के भतीजे भगवानदास हैं। उनकी आयु बकौल उनके पाच ऊपर सत्तर थी। मैंने पूछा, "पण्डित जी जब पहली बार बंगाल से गांव आए तो उनकी क्या उमर थी?"

भगवानदास बोले, "कनिया मा रहे, तब दुई एक दाई आए रहैं। बाकी ग्यारा-चौदा बरस के रहे तब उइ हियां आए। बारा-बारा 'ग्याद' खेलें।" इस-पर महाबीर नाम के एक सज्जन बोले, "गोली दिन-दिन भर ग्यालें। वे पाचों उंगलियों से अलग-अलग गोली मार लेते थे।"

भगवानदास जी का भाव उमड़ रहा था। कहने लगे, "पण्डित जी, हम पचन का इतना मान्त रहैं कि अपने परिवरहन न मानें और फिर जब उइ बड़े हुइगे हियां आवैं तौ हम पचै उनका छाडि कै और कौनौ काम नहीं किहिन। कुश्ती लड़ावैं का बहुत सौक रहा। सबका एक-एक लगोटा बनवाइन।"

राष्ट्रीय आन्दोलन में निराला जी ने अपने गांव के जमीन्दार के अत्या-चारों के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन चलाया। श्री गया प्रसाद, श्री भगवानदास, श्री महावीर एक में एक बात जोड़कर सुनाने लगे: "मिटिन होत रहै। एक मीटिन निराला जी कराइन, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आए रहे। देबिन के पास तबू गाड़ि कै मीटिन भै। वहू जमाने मा लगान अदाई तौ होति न रहै, तौन रैयतु भागी-पीटी जाए, वही जमाना मा दुई-चार पिटवाएगे, तौन निराला जी

रिसायगे, किसान सगठन कराइन पूरे गाव जमीनो का इस्तीफा कराय दिया—दुई-चार लोग चाहे न किहिन होय बाकी सब किहिन। साल-भर जमीन परती पडी रही।"

निराला जी के आन्दालनकारी रूप की कल्पना तो मैं सहज ही कर सकता था। चतुरी चमार मे उन्होने उन दिनो का ब्यौरा दिया है। अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाए बिना—निराला जी रह ही नही सकते थे।

सरोज के विवाह की निराली कथा भी सुनी। पण्डित गया प्रसाद जी गाव के उन व्यक्तियो मे से हैं जिन्हे, निराला जी अपना मित्र मानते थे। उन्होंने बतलाया, "सरोज के वर (शिवशेखर जी) गाव मे ही मौजूद थे। निराला जी ने अपनी बेटी का विवाह उन्हीसे कर देने का निश्चय मन ही मन कर लिया था। एक दिन सवेरे हम ते कहिन कि चलौ गया परसाद कानपुर। सामान लाना है। आज हमारे हिया बरात आई। कानपुर ते फल धोती सब समान लाए। गूलर की डाल गाडी गई। मगरायर ते नन्द दुलारे वाजपेई आए, राधारमन आए। निराला जी पण्डित का बुलाइन। कहा, 'मन्त्र पढौ। सरोज केर सादी आय।'

"पण्डित बोले, 'ऐसे कैसे सादी होइ है?'

"निराला जी बोले, 'तुम्ह का मालूम, कितने प्रकार के विवाह होते हैं। जैसा मैं कहू वैसा करो।'

"बस बिहाव होइगा।"

अवधी के एक तरुण कवि सूरजप्रसाद द्विवेदी निराला जी द्वारा बीघापुर स्टेशन पर लालमणि जी को थाल भर बर्फी खिलाने का किस्सा सुनाने लगे। बोले, "यह बात मैंने लालमणि जी से सुनी थी और इसपर मैंने एक कौवाली भी लिखी है।"

कव्वाली का नाम सुन हमे मज़ा आ गया। सुनाने के लिए कहा। सूरज-प्रसाद जी सुनाने लगे।

"आज बर्फी मिले खाऊँ
तो मज़ा आ जाए।
और चाकू से छिलाऊँ
तो मज़ा आ जाए।

दोस्तो सुन लो ये किस्सा बड़ा पुराना है।
महाकविराज निराला को जगत माना है।
गढाकोला मे जन्मभूमि काव्य माना है।
रहे प्रयाग तीर्थराज मन लुभाना है।
वही दृष्टान्त सुनाऊँ तो मजा आ जाए।

आज बर्फी मिले, लाऊँ
तो मजा आ आए !

आ रही गाड़ी बरेली से चली बीघापुर,
खटाखट बांट रहे थे टिकट खड़े मायुर।
प्लेटफारम मे शोर गुल मचा जैसे दादुर,
दो युवक कर रहे थे बातचीत प्रेमातुर।
मित्रवर मन की बताऊँ तो मज़ा आ जाए।

आज बर्फी जो खाऊँ
तो मजा आ जाए !

सुना बातों को निराला जी मुस्कराए हैं।
दबे पांवो ही यहाँ से तुरत सिधाए हैं
उठा दूकान से बर्फी का थाल लाए हैं
सामने लाके रखा मृदुवचन सुनाए हैं।
अजी बैठो मैं खिलाऊँ तो मजा आ जाए।

आज बर्फी जो खाऊँ
तो मजा आ जाए !

देख लीला को निराला की वह लजाए हैं,
चकित होके चरण कमलो मे सर झुकाए हैं।
हठ थाल में ही बर्फियां खिलाए हैं
। लौटाके हुए दाम जो चुकाए हैं।
म 'सूरज' जो बढाऊँ तो मजा आ जाए।

आज बर्फी जो खाऊँ
तो मजा आ जाए।

मगरायर के श्री रेवती शकर शुक्ल ने निराला जी के पहलवानी के किस्से सुनाए। उन्होने बताया कि गढाकोला मे एक रईस रहा करते थे। निराला जी से उनकी बडी मैत्री थी। उन्हीकी प्रेरणा से चौरसिया जी ने मगरायर मे वीणापाणि पुस्तकालय की स्थापना भी की। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी भी मगरायर ग्राम के निवासी हैं। निराला जी तथा उनके पिता चौरसिया जी से मिलने के लिए अक्सर वहा जाया करते थे। उन दिनों निराला जी को पहलवान बनने का बडा जोम था। खूब कसरत करते वे और बदन बनाते थे। एक दिन चौरसिया जी से बोले, "बाबूजी, कोई जोड नही मिलती।"

चौरसिया जी बोले, "घबराओ मत। परागी पहलवान को बुलवाया है।"

"कहीं बाहर का रहने वाला है?"

"नही, है तो यहीं का, पर आजकल बाहर गया हुआ है।"

"तो उसे झट-पट बुलवाइए।"

उसके बाद से निराला जी परागी पहलवान से कुश्ती लडने के लिए आतुर रहने लगे। एक दिन चौरसिया जी ने बताया कि परागी आ गया है। निराला जी माशूक की तरह परागी पहलवान से मिलने के लिए बेचैन हो गए। चौरसिया जी ने कहा कि परागी धोबियों की गली मे रहता है। निराला जी को भला सब्र कहा। पता पूछते हुए वहा पहुंच गए! कुण्डी खटखटाई। पहलवान बाहर आए। निराला जी उन्हे देखते रहे। फिर पूछा: "आप ही परागी पहलवान हैं?"

वे बोले, "हा।"

बस, फिर बिना कुछ कहे-सुने ही वहा से चले आए। चौरसिया जी से मिले। बोले, "आपके परागी को अभी देखकर चला आ रहा हू।"

चौरसिया जी ने पूछा, "है बराबर की जोड कि नहीं?"

"अजी वो क्या लडेगा मुझसे? मुझे मालूम हो गया, यहा कोई मेरी जोड का पहलवान नही है।"

चौरसिया जी बोले, "खैर पण्डित जी, कुछ हरजा नहीं। कल लड तो

लेना ही उससे, और कुछ नही तो उसका हौसला ही बढ जाएगा।"

निराला जी ने मगनमन 'हा' कह दिया। दूसरे दिन रुस्तमेहिन्द बने हुए झूमते-झामते अखाडे में पहुच गए। परागी ने एक-एक करके उन्हे चार बार पटकनी दी। दूसरे ही दिन एक मटकी घी लेकर निराला जी परागी पहलवान के यहा पहुचे। बोले, "पहलवान खूब लडते हो। य लो, घी खाओ।"

उसके बाद परागी पहलवान से निराला जी की बडी दोस्ती हो गई। परागी के अलावा उस क्षेत्र मे दुलारे काछी का भी पहलवानी मे बडा नाम था। एक बार निराला जी के हौसले और चौरसिया जी के पैसे के बल पर उन दोनों का दगल कराया गया। दुलारे काछी का बडा दबदबा था। लेकिन जब परागी ने उसे पछाड दिया तो निराला जी ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने ही कुश्ती जीती हो। परागी से बोले, "तुम्हे सोने का मेडल दूगा।"

निराला जी और सोने का मेडल! मिट्टी का भी देते तो सोने से बढकर होता!

मजमे मे एक चितचोर जी भी थे—पास ही के राजापुर गढेवा गाव के रहने वाले। निराला जी के इलाके में मुझे अगर चितचोर न मिलते तो मजा अधूरा रह जाता। लाखों की हैसियत से कम तो वे बात ही नहीं करते थे, और हाल बडा पतला था। कहने लगे कि 'निराला जी हमसे बहुत कहे कि चितचोर, कविता लिखो, चितचोर कविता लिखो। पर हम कह कि नही। फिर अभी हाल ही मे हमने सोचा कि निराला जी हमारे बैसवारे के रतन रहे, मित्र रहे, इतना कहते रहे तो लाओ कविता लिखे। फिर क्या था नागर जी, हमने पाच कविताए लिख डाली। आपको पाचों सुननी पडेंगी।"

पाचो कविताए चितचोर जी ने कांग्रेस के विरुद्ध लिखी थी। ठाठ के साथ सुनाई। फिर पूछा, 'कैसी हैं?"

"अरे···!" हमने कहा, "ये कविताए सुन लेते तो निराला जी फिर कविता लिखना छोड देते।"

चितचोर जी यह सुनकर बडे सन्तुष्ट हुए। बोले, "बडे सेर आदमी रह निराला जी। हमारे बैसवारे के रतन रहे,—रतन आफ होल इण्डिया रह। और तुम समझ लेव नागर जी, कि निराला जी मर तो जरूर गए, बाकी ये

बताओ कि उनकी रुह कहा है।"

हमने कहा, "रुहो तक हमारी पहुच नही। यह आप ही बतला सकते हैं।"

बोले, 'हा, हम ही बतलाय सकते है। उनकी रुह कही नहीं गई। एक तांत्रिक ने उसको पकड लिया है।"

मीटिंग का समय हो रहा था। बिहारीलाल जी ने कहा कि भोजन करके उधर ही चला जाए। हम घर के अन्दर गए। दरवाजे से घुसते ही दहलीज मे एक जगह पुआल का ढेर पडा था। बिहारीलाल जी बोले, "काका, यहैं बैठि कै लिखत रहे। तकिया छाती के तले दबाय लें, और पौडे भर, लिखा करें।"

घर के अन्दर आगन की कच्ची चहारदीवारी कई जगह से टूट चुकी थी। बडा खस्ता हाल था। पिछवाडे की तरफ चतुरी चमार के घर की दीवाल भी दिखलाई पड रही थी। निराला का घर-गाव सब कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। इस अति पिछडे हुए गाव मे कीचड-कादा और टूटे घरो की बस्ती देख-देखकर मेरा मन एक अजीब खिसियान मे भरता जा रहा था।

हमारा मिडिल क्लास बाबू निराला को राष्ट्रपति भवन मे प्रतिष्ठा दिलाने के लिए मचल रहा है। वह चाहता है कि निराला का सम्मान हो। राष्ट्रीय महापुरुषो मे उन्हे समुचित स्थान मिले। राष्ट्रपति, मत्री, प्रधान मत्री, अमुक जी, तमुक जी आदि उनके यश गाए। मैं सोचने लगा कि ये कैसी उल्टी अभिलाषा है लोगों की। कैसा निकम्मा उद्योग है उनका। निराला ये ठाठ भला यों बन सकते है!

भोजन के बाद जुलूस निकला। लोहे की कुर्सी पर चादर टाककर उस-पर निराला जी का चित्र रखकर उन्हींके वश का एक युवक उस सिहासन को अपने सर पर उठाए हुए आगे-आगे चला। पीछे गाव वालो का हुजूम। घटा-शख-घडियाल की ध्वनि और उसके पीछे चिमटा-झाझ-करताल-मजीरे बजाते और गाते हुए चतुरी के भाई बिरादरी की भगत मण्डली। बीच-बीच मे 'बोल दे निराला बाबा की जय' के नारे।

घरो से औरतें और बच्चे शोर सुनकर बाहर निकल पडे थे। गाव के लिए इस बार की बसत पचमी एकदम नई होकर आई थी। मैं सोचने लगा कि महाकवि ने अपने जीवन-काल मे कभी यह कल्पना न की होगी कि उनके

पुरखो के गाव मे उनका ऐसा सम्मान होगा।

सन् '३८ मे निराला जी यहा से दुखी होकर गए थे, और फिर कभी न आए। ऊची जाति के लोगों में दम्भ और अशिक्षा का बोलबाला था। गरीब जनता बडो की लाठी मे बुरी तरह ग्रस्त थी। जुलूस मे साथ-साथ चलने वाले धमनी खेडा के श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र और काशीप्रसाद मिश्र दो भाई भी थे। रिश्ते मे निराला जी उनके मामा होते थे। काशीप्रसाद जी कहने लगे, "सन् अट्ठावन मे हम लोग बसत पचमी के दिन निराला जी से मिलने के लिए इलाहाबाद गए। उन्होंने बडी उत्सुकता से यहा का एक-एक हाल पूछा। मैंने कहा कि एक बार फिर गाव चलिए। सुनकर मामा उदास हो गए। कहने लगे कि क्या जाए, वहा बडी अशिक्षा है। मैंने कहा कि अब गढाकोला और बैसवारा बहुत बदल गया है। वहा गाव-गाव मे स्कूल-पाठशाले खुल गए हैं। जमीदारी भी खत्म हो गई है। किसान अब अपने खेतों के मालिक हो गए हैं।

"इसपर महाकवि पूछ बैठे, 'गढाकोला का लगान अब कौन लेता है?'

"मैंने कहा, 'कुर्क अमीन वसूल करते हैं।'

"पूछने लगे, 'कुर्क अमीन किसके आदेश से वसूल करते हैं।'

"मैंने कहा, 'सरकार के आदेश से।'

"सरकार का नाम सुनते ही न जाने क्या हुआ कि महाकवि ने मुह फेर लिया, और कुछ बडबडाने लगे।"

दुर्गाप्रसाद कह रहे थे, "इस बार भादो मे हम फिर उनसे मिलने इलाहाबाद गए थे। महाकवि यहा का सब हाल-चाल पूछने लगे। फिर हमसे कहा, 'गढ़ाकोला जैहो।'

"मैंने कहा, 'आप कह तो चले जाई।'

"निराला जी बोले, 'हमका कौनौ गर्ज है?'

"उसके बाद हम गढाकोला आए। यहा से उनके लिए आम, अमावट, खटाई सब ले गए। निराला जी को अपने बगीचे के आम बहुत ही पसन्द थे। मैंने एक आम उनकी ओर बढाते हुए कहा, 'भदैला को आम आय।'

"महाकवि देखकर बोले, 'नाही, यौ म्याड पर वाले को आय।'

"उन्हे अपने बगीचे के एक एक पेड के आम की पहचान थी। अन्तिम बार उन्होंने अपने गाव के आम खाए और फिर आम, अमावट और खटाई

आदि लेकर अपने पुत्र रामकृष्ण के घर गए।"

कच्ची सडक से जुलूस आगे बढ रहा था। अगल-बगल दोनों ओर सरसों फूली हुई थी। क्षेत्र के ब्लाक डेवलपमेट अफसर मेरे पास आए। कहने लगे, "ये सडक जिसपर कि आप चल रहे हैं, इसका नाम निराला मार्ग है। गाव वाले इसे श्रम-दान से तैयार कर रहे हैं। छह मील की यह सडक पुरवा मे जाकर मिलेगी। फिर वहा से उन्नाव तक यही निराला मार्ग बना दिया जाएगा।"

उनकी बात पूरी भी न हो पाई थी कि पण्डित बिहारीलाल जी लपकते हुए हमारे पास आए और बायी ओर का एक खेत दिखलाते हुए बोले, "यह खेत रामसहाय बाबा ने निराला काका के नाम से लिया था। कागज़ पर सूर्जकुमार नाम चढा है।"

जुलूस और आगे बढा। निराला बाबा की जय के नारे और शख घटा-घडियालो का नाद इस समय अपने पूरे ज़ोर पर था। किनारे पर पडी एक मडैया के आगे खडा हुआ एक वृद्ध बार-बार अपनी आखें पोछने लगा। गढाकोला के एक सज्जन ने बतलाया कि यह पासी निराला जी के पास बहुत आया-जाया करता था। इसपर हठात् मेरे मन मे बात आई। छोटी कौम कहलाने वाले दबे-पिसे लोग ही निराला जी के नाम पर रोनेवालो मे यहा अधिक हैं। मैंने छेडते हुए पूछा, "यहा के ऊची जात वालो मे कितने लोग निराला जी के भक्त हैं?"

"अरे बहुत कम। ई पचै तौ महाकवी का यादौ नही कर्तु है।"

मैं सोचने लगा कि वे लोग भला निराला को क्यो याद करें। निराला जी ने उनकी जातिगत उच्चता को कभी स्वीकार नही किया। उनके झूठे धर्म को सदा लातो से ठुकराया। गरीब-मजलूमो की आवाज सुनी। उनके लिए ताकतवरो से जूझे। उनके सुख-दुख मे शामिल हुए, यही वजह है जो यह इतनी बडी भगत-मडली इस जुलूस मे ऊची जात वालो की सख्या को मात देती हुई आगे बढ रही है। मुझे बडा अच्छा लग रहा था। शिव अपने भूतगणो के साथ ही शोभित होते हैं।

निराला बाग आ गया। यह उनके पुरखो का बाग है। कुनबे वालो ने

चितचोर गम्भीर हो गए। फिर बोले, "अच्छा, तो—या तो एक रुपया हमे देव या हमसे लेव।"

चितचोर जी के कहने की अदा मुझे बडी भायी।

भाषण पर भाषण होते रहे। माइक्रोफोन था नही और आजकल आम तौर पर हमारे पढे लिखे लोगो के पास वह आवाज नही रह गई जो दस-बीस हजार की कौन कहे, हजार-पाच सौ आदमियो को भी सुनाई पड सके। जनता धीरे धीरे बढती जा रही थी। जवान लडकिया, औरतें, बच्चे, पुरुष क्रमश बढते ही जा रहे थे। होने वाले तमाशे, यानी कि भाषणबाजी के प्रति उनमे सहज आकर्षण था। लेकिन बातें कुछ तो सुनाई न पडती थी, और कुछ समझ मे न आती थीं। इसलिए बढती भीड मे शोरगुल भी क्रमश बढता ही जाता था।

मुझे लगा कि इस मेले को एक सुनियोजित रूप देना चाहिए—कसरत-कुश्ती का दगल, औरतो की बनाई हुई गृह शिल्प की वस्तुओ का प्रदर्शन, क्षेत्रीय कवियो का सम्मेलन, खेल-कूद और वाद-विवाद प्रतियोगिताए, यहा प्रतिवर्ष हुआ करें तो बहुत अच्छा हो।

[१९६२]

हिन्दी के एक रूपदाता : रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण जी पांडेय को याद करते हुए स्वाभाविक रूप से भाषा की समस्या वाली बात मन मे उनके लखनवी होने के कारण ही उभर आई। लखनऊ खडी बोली के उर्दू रूप का जाना माना गढ था। वहा जिन लोगो मे 'अच्छी-खासी मीठी जबान' को सस्कृत शब्दो से 'बदसूरत' बनाने की प्रेरणा उपजी, उनमे पांडेय जी का प्रमुख स्थान है। अपने एक लेख मे—उन्होंने लिखा है

"नवाबी शहर लखनऊ सदा से उर्दू का गढ रहा हो या नहीं, किन्तु आज से चालीस पचास वर्ष पहले अवश्य था। उस समय लखनऊ मे हिन्दी का प्रचार बहुत कम था, जिधर देखो उधर उर्दू का ही बोलबाला था। बातचीत मे उर्दू, पत्र-व्यवहार मे उर्दू, अदालत मे उर्दू। उर्दू के अखबार और उर्दू की पुस्तकें ही अधिकतर छपती और बिकती थी। कवि सम्मेलन तो नाम का भी नही सुन पडता था, मुशायरे आए दिन हुआ करते थे।"

ऐसे वातावरण मे रहते हुए वे उर्दू मे क्यो न प्रभावित हो ? प० रतन-नाथ दर सरशार के पडोस म रहकर भी वे हिन्दी के कवि, लेखक और सम्पादक क्या हुए ? यह प्रश्न सहज ही मन मे उठता है। अनेक श्रेष्ठ सस्कृत और बगला पुस्तकों के अनुवाद कर उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को प्रभावित किया है। पडोस की उर्दू न सीख—कोसो दूर बगाल की भाषा के जादू से क्यो बचे—वे ही नहीं सारा हिन्दी भाषी प्रदेश क्यो बधा, यह बात भी बराबर ध्यान मे आती है। जाहिर है कि उर्दू शैली मे प्रस्फुटित हुए भाव हमारे जन-मानस की वह भूख मिटाने मे असमर्थ रहे होंगे जो सस्कृत, बगला, मराठी और गुजराती पुस्तको के हिन्दी अनुवादों द्वारा उस समय तृप्त हुई। अपने प्रदेश की अपनी ही भाषा की एक शैली के साहित्य से वे एक न हो सके और दूसरे प्रदेशों की भाषाओं के साहित्य मे उन्ह एका मिला, यह समझने योग्य बात है।

मैंने एक बार पाडेय जी से कुछ लिखित प्रश्न किए, उनके उत्तर उन्होंने भी लिखकर ही देने की कृपा की थी। एक प्रश्न के उत्तर मे प्रसगवश उन्होंने लिखा था

"बगला सस्कृत-बहुल भाषा होने के कारण हिन्दी वालो के लिए सीखने मे सहज थी। इसीसे बगला ने हिन्दी और उसके लेखको को प्रभावित किया।... बगला के भाव और विचार प्राय उन्नत होते जा रहे थे। उनमे सकीर्णता की जगह व्यापकता के चिह्न प्रकट होने लगे थे।"

सस्कृत के साथ हमारी सभी प्रादेशिक भाषाओं का बडा घना सम्बन्ध है, यहा तक कि द्राविडी भाषाओं के साथ भी। राष्ट्रीयता की चेतना जगाने मे अकेली अग्रेजी ही नही, देश की सास्कृतिक इकाई का भी आखिर कुछ योग अवश्य था, यह हमे नही भूलना चाहिए। यह सास्कृतिक इकाई उनकी थी जो कश्मीर के अमरनाथ से लेकर दक्षिण के—रामेश्वरम्, कन्याकुमारी तक और द्वारका से कामरूप आसाम तक के दर्शन करने म अपने जन्म की सार्थकता मानते थे।

उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत आदि के नागरिक और साक्षर ग्राम-वासी यदि नागरी लिपि और अपनी आध्यात्मिक साहित्यिक चेतना की परम्परा मे चिर प्रवहमान सस्कृत शब्दो मे युक्त खडी बोली को अपनाते हैं तो इसमे उनका दुराग्रह क्यो कर माना जा सकता है। क्या वे राष्ट्रीयता के नवजागरण-काल मे अपनी सास्कृतिक इकाई को भूल 'अच्छी खासी मीठी जबान' के तग दायरे मे बधे रह सकते थे ?

पहले भी लखनऊ मे उर्दू की शिक्षा-दीक्षा मुसलमानो के बाद कायस्थो और काश्मीरी ब्राह्मणों के परिवार मे ही होती थी। इनके पूर्वज नवाबी दरबारो से सबद्ध थे। इनके बाद इक्के दुक्के उदाहरण छोडकर बाकी लोग जो अपने बाल-बच्चो को पढाते-लिखाते थे, वे अग्रेजी के साथ नागरी का ही पोषण कर रहे थे। पुराना दरबार उजड जाने से कायस्थो और काश्मीरी ब्राह्मणो मे भी नागरी के प्रति धीरे-धीरे रुचि बढ रही थी। सन् १८८७ मे यहा से काश्मीरियो का 'धर्म सभा अखबार' साप्ताहिक और सन् १८८६ ई० मे मासिक 'कायस्थ उपदेश' प्रकाशित होने लगा था। वैसे सन् १८८१ मे 'मासिक भारत दीपिका' और सन् १८८२ मे दैनिक 'दिनकर प्रकाश' भी प्रकाश मे आ चु

थे। लगभग यही समय पाडेय जी के जन्म का भी है।

वे गेगामो के पाडेय थे, कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के 'विस्वामरजाद' के अनुसार 'भकभकौआ' पूरे बीस। घर मे पठन-पाठन ब्रह्मकर्म होता था। पैसे से यह लोग हेटे थे। जैसे-तैसे ही गृहस्थी की गाडी खिचती थी। इनके जन्म के एक साल बाद ही पिता का देहान्त हो गया। पितामह ने ही इनका पालन-पोषण किया। वे ही इनके गुरु भी थे। जब ये तेरह वर्ष के हुए तब वे भी कालवश हुए। कच्ची उमर मे ही इनपर रोटी कमाने का बोझ भी पड गया। शिक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी, बालक की चिन्ताओं का ठिकाना न रहा।

उन दिनो चौक के सोंधी टोले मे प० ज्ञानेश्वर जी नामक एक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। पाडेय जी इनकी शरण मे गए। उन्होंने निराश्रित बालक को अपनी छत्रछाया मे ले लिया। ज्ञानेश्वर जी के सम्बन्ध मे बाते करते हुए पाडेय जी श्रद्धा-विभोर हो उठते थे। मुझे इस समय ठीक-ठीक याद नही आ रहा है कि किन कारणों से वे कैनिंग कालेज मे संस्कृत पढने के लिए भरती हुए। शायद ज्ञानेश्वर जी का स्वर्गवासी हो जाना ही इसका कारण था। वहा प० रामकृष्ण जी शास्त्री इनके गुरु हुए। पाडेय जी प्रतिभावान, कठोर परिश्रमी और बडे विनयशील थे। शास्त्री जी इनपर प्रसन्न हो गए। उत्तम शिक्षादान दिया। पाडेय जी के शब्दों मे उनसे इन्हे "शिक्षा और प्रशसा तो प्राप्त हुई ही, स्वल्प शब्दो मे विशेष भाव व्यक्त करने का गुर भी मिला।" यह सब होते हुए भी गरीबी के कारण इनकी शिक्षा अधूरी ही रह गई। पेट पालन की चिन्ता मे भटकने लगे। कविता करने का चस्का पड चुका था। परन्तु उसमे वाहवाही के सिवा और कुछ न मिलता था। सस्कृत पुस्तको, विशेष रूप से पुराणों के अनुवाद छपने लगे थे। इन्होंने प्रकाशको से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया। होते-करते बम्बई के निर्णय सागर प्रेस से इन्हे श्रीमद्भागवत का अनुवाद करने की साई मिली। इनका वह अनुवाद 'शुकोक्तिसुधा सागर' के नाम से प्रकाशित हुआ उससे इन्हे प्रशसा मिली।

उन्ही दिनो शायद सन् १९०७ मे बाबू गोपाललाल खत्री मे पाडेय जी की भेट हुई। मेरे पितामह के साथ-साथ खत्री जी भी इलाहाबाद बैंक के ओहदेदारों मे से एक थे। गोपाललाल जी जौनपुर के एक जमींदार कुल के थे। रईस और शौकीन मिजाज थे। उनके वेतन और जमींदारी की पूरी आमदनी खाने-

पीन मे ही उड जाती थी। फिजूलखर्ची तब भी न रुकी, बाद मे उन्हे और उनके परिवार को उसका कठोर दुष्परिणाम भी भुगतना पडा। खैर, यह होते हुए भी वे नागरी भाषा के बडे प्रेमी थे। उन्होंने 'हमारी दाई' नामक एक उपन्यास भी लिखा था। लखनऊ आने पर उन्होंने यहा हिन्दी का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए एक अपील लिखी और पाडेय जी के यहा पहुचे। पाडेय जी बाईस-तेईस वर्ष के युवक थे। पर नाम कमा चुके थे। 'सरस्वती' मे उनकी कविताए छपने लगी थी। आचार्य द्विवेदी जी तक उनकी गणना उत्तम कवियो मे करते थे। पेट की खातिर व नाम कमाने के शौकीन रईसो के लिए भी लिखा करते थे। रईस आपस मे पता लगा ही लेते थे कि अमुक ने अपने नाम से छपी कविताए, लेख, अभिभाषण आदि किससे लिखवाए। इस तरह पाडेय जी की ख्याति हर तरह से फैल रही थी। परन्तु इस ख्याति से उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का बल किसी हद तक क्षीण ही हुआ। वे उस गाय की तरह थे जो दूसरो द्वारा दुह लिए जाने के कारण स्वय अपने बछडे को हृष्ट-पुष्ट न बना सकती थी। मिश्रबन्धुओ ने पाडेय जी के विषय मे ठीक ही लिखा है

"यदि जीविका साधनार्थ आपको अनुवादो पर ही बहुत अधिक ध्यान न देना पडता, अथवा मौलिक ग्रन्थो की ओर आप झुकते, तो सभवत परमोच्च श्रेणी के कवि होते।"

खैर, गोपाललाल जी खत्री के पैसे से पाडेय जी के सम्पादन मे यहा से 'नागरी प्रचारक' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। उसके 'मोटो' के रूप मे पाडेय जी ने एक छद लिखा था।

> अर्थ निकरत है, अनय न करत,
> बर बरन हिय, हिय में बिचारिये,
> शुद्ध औ सरस, पद कोमल अमल अग
> गूढ धुनि, पुनि बहु भूषण सँवारिये।
> सुन्दर सुलच्छन, बिलच्छन चमतकार,
> बिगत बिकार, ताहि काहे को बिसारिये ?
> नागर निरादर सो नागरी सी छीन
> यहि नागरी गरीबिनि को नेकु तो निहारिये।

इसकी व्याख्या स्वयं पांडेय जी ने इस प्रकार की है।

'इस छंद में नागरी की नागरी (नारी) से तुलना की गई है। जैसे नागरी (नारी) से अर्थ अर्थात् मतलब निकलता है वैसे ही इस नागरी से अर्थ निकलता है। जैसे वह नागरी कोई अनर्थ या बुरा काम नहीं करती, वैसे ही इस नागरी की लिखावट से उर्दू की तरह अर्थ का अनर्थ नहीं होता, कुछ का कुछ नहीं पढ़ा जाता। उस नागरी का वर्ण (रंग) हृदयहारी होता है और इस नागरी के वर्ण (अक्षर) भी सौन्दर्य से हृदय को हरने वाले हैं। वह नागरी शुद्ध (सच्चरित्र) है और यह भी शुद्ध है। वह नागरी सरस यानी रसीली है तो इस नागरी में भी नवरस है। इसके पढ़ने से रस (आनन्द) मिलता है। उसके पैर कोमल हैं इसकी कविता के भी पद कोमल हैं। उसके हाथ-पैर आदि अंग निर्मल-निर्दोष हैं इसके भी अंग (दशांग साहित्य) निर्मल-निर्दोष हैं। उसकी ध्वनि अर्थात् आवाज़ कुल कामिनी होने के कारण सबको सुनाई नहीं पड़ती, इसकी भी कविता में 'ध्वनि' गूढ़ रहती है। उस नागरी को अनेक आभूषण जैसे सजाते हैं वैसे ही नागरी को भी अनेक शब्दार्थालंकारों से सजाया जा सकता है। दोनों ही सुन्दर हैं। उस नागरी में सब अच्छे लक्षण हैं तो यह नागरी भी सुन्दर लक्षणों से अथवा अच्छे अक्षरों से युक्त है। दोनों का चमत्कार विलक्षण है। आप लोग विचारिए, फिर ऐसी नागरी को क्यों भूले हुए हैं? जैसे नागर (नायक) से निरादर पाकर नागरी (नायिका) दिन-दिन दुबली होती जाती है। वैसे ही नागरों (नगर निवासियों) के किए निरादर से क्षीण होती चली जा रही इस गरीब नागरी की ओर तनिक तो देखिए—इसकी सुधि लीजिए।"

पुरानी और नई राजभाषाओं के बोझ-दबाव से पीड़ित बहुजन की भाषा के लिए तत्कालीन युवक पांडेय की भावना को संकीर्ण अर्थ में साम्प्रदायिक मानने के लिए मैं हरगिज़ तैयार नहीं। पांडेय जी बड़े उदार थे। उर्दू साहित्य के प्रति वे तनिक भी संकीर्ण नहीं थे। इनके सम्पादकत्व में निकलने वाली 'माधुरी' और 'सुधा' की पुरानी फाइलें उलटने पर कोई भी यह देख सकता है कि उन्होंने उर्दू साहित्य से सम्बन्धित कितने ही प्रशंसात्मक लेख छापे थे। अपनी मृत्यु से केवल चार दिन पहले 'शतदल' नामक संस्था की एक गोष्ठी में एक मुसलमान की गज़लों पर रीझकर उन्होंने तत्काल ही उनकी प्रशंसा में एक छंद लिखकर दिया था।

बगला पुस्तकों के अनुवादकर्त्ताओं मे उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। पेट के गरज-चाकरी से बधकर भी वे अपना उद्देश्य न भूले। अल्लम-गल्लम भरने के बजाय वे यहा का श्रेष्ठ साहित्य ही हिन्दी म लाए। इसमे तनिक भी अत्युक्ति नही कि रूपनारायण पाडेय 'कविरत्न' के पुण्य प्रताप से ही हिन्दी का मौलिक कथा-साहित्य पनपा। भाषा ऐसी सरल और मुहावरेदार लिखते थे कि वह दूसरो के लिए आदर्श बन गई।

'नागरी प्रचारक' के अतिरिक्त जब प्रसाद जी की प्रेरणा से मासिक 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ करने की योजना बनी तो महाकवि के आग्रह से व ही उसके सम्पादक नियुक्त हुए। भारत धर्म महा मडल ने इन्ह 'कविरत्न' की उपाधि देकर अपनी पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादक बनाया। 'माधुरी' और 'सुधा' पत्रिकाए इन्हीके सम्पादन मे ऐतिहासिक महत्व अर्जित कर पाई। जिन दिनो चारो ओर मे महाकवि निराला जी का विरोध हो रहा था, उन दिनो 'माधुरी' उनकी कविताए मुख पृष्ठ पर छापती थी।

निराला जी उनका बडा आदर करते थे। पाडेय जी ही ऐसे थे जो महाकवि की रचनाओ मे काट छाट कर सकते थे। उनके 'पत और पल्लव' नामक सुप्रसिद्ध लेख का एक पैराग्राफ, जो पाडेय जी की दृष्टि मे कटु था, महाकवि के सामने ही लाल स्याही से कट गया। महाकवि बडे उत्तेजित हुए परन्तु पाडेय जी के मीठे किन्तु दृढ तर्क के आगे चुप हो गए।

प्रेमचन्द की एक कहानी का शीर्षक था 'पौपुजी', मुहावरे की दृष्टि से पाडेय जी को गलत जचा, काटकर 'पैंपुजी' लिख दिया।

लेखक नया है या पुराना, इसकी चिन्ता न करके वे वही रचनाए छापते थे जो उनकी नजर म चढ जाती थी। अवधी बोली के श्रेष्ठ कवि और यथार्थवादी कहानिया लिखने मे बेजोड, हमारे आदरणीय मित्र बलभद्रजी दीक्षित 'पढीस' के स्वर्गवासी हो जाने पर बधुवर डॉ० रामविलास शर्मा ने 'माधुरी' का 'पढीस' अक निकालने की प्रार्थना की। पाडेय जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया, यही नही, उस अक का सम्पादक भी भाई रामविलास जी को ही बना दिया। जब उस अक के प्रकाशन की योजना होने लगी तो एक स्वनामधन्य आलोचक, जिनकी विद्वत्ता का अनुमान केवल इसीसे लगाया जा सकता है कि वे पब्लिसिटी के अनुसार ही किसी लेखक का छोटा-बडा होना मानते थे, एक सज्जन से बोले, "क्या पढीस

जी इतने बड़े लेखक थे कि उनकी स्मृति में 'माधुरी' का विशेषांक निकाला जाए ?' उन स्वनामधन्य प्रोफेसर समालोचकाचार्य की न्यायबुद्धि के आगे पांडेय जी की न्यायप्रियता और उदारता ऐसी लगती है जैसे चूहे के आगे पहाड़।

वे जीवन भर सीधे-सादे एक-से बने रहे। गर्मी में धोती, कमीज, वास्कट, जाड़े में कोट। यही उनकी पोशाक थी।

मुझपर उनका स्नेह पुत्रवत् था। उनके कथनानुसार मेरे पितामह उन्हें पुत्रवत् मानते थे। सन् '३८ में जब वे चार महीनों की तीर्थयात्रा के बहाने भारत भ्रमण के वास्ते गए तो 'माधुरी' का काम-काज मुझे सौंप गए थे। एक कलक रह गई—सन् '४८ में जब मैं फिल्मों का काम छोड़ लखनऊ आया तब दो-तीन बार उन्होंने कहा, "देखो, तुम मुझसे संस्कृत पढ़ लो। तुम्हारे बड़े काम आएगी।" मैं अभागा उसके लिए समय न निकाल पाया। अब कौन उतने प्यार से शिक्षादान देने का आग्रह करेगा।

अपने सम्बन्ध में वे पब्लिसिटी की धूमधाम पसन्द नहीं करते थे। एक बार मैंने किसी लेख में उन्हें आचार्य पांडेय जी लिखकर सम्बोधित किया। 'माधुरी' कार्यालय से लौटते समय वे मेरे घर आए, बोले, "भैया, छोटे हो सही पर कहो तो तुम्हारे पैर छू लूं, तुम हमें उपाधिग्रस्त न करो। एक 'कविरत्न' टाइटिल मिल गया वही बहुत है।"

सन् '५० में उनकी ६६वीं वर्षगांठ के अवसर पर लखनऊ के सुकवि बंधु निशंक जी ने 'शतदल' की ओर से उनके सम्मानार्थ एक आयोजन करना चाहा। वे कन्नी काट गए। निशंक जी ने मुझसे कहा, "तुम आयोजन करो, उन्हें राजी करने का ज़िम्मा मेरा रहा। मैंने उन्हींके घर पर 'शतदल' की एक गोष्ठी करने की सलाह दी। गोष्ठी के अंत में निशंक जी ने फिर अपना प्रस्ताव रखा। पांडेय जी ना-ना करते ही रह गए, परन्तु मैंने उनकी एक न चलने दी। हारकर उठकर अन्दर चले गए, कहा, "जो चाहो सो करो।"

ऐसे सरल, निर्मल, कर्मठ व्यक्ति अब कहां मिलेंगे ?

[१९५८]

सम्पादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

२१ मार्च सन् १६६८ की शाम को साढे सात बजे प० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के स्वर्गवास के साथ ही साथ तपस्वी साहित्यकारो एव पत्रकारो की महान पीढी की अन्तिम कडी लुप्त हो गई। पिछले ३० दिसम्बर को उनके ८८वें जन्म-दिवस पर हम लोग सदा की भाति उनके चरण-स्पर्श करने गए थे। शरीर से बहुत अधिक शिथिल होते हुए भी मन से वे ताजे थे। उनके पुत्र उपन्द्र उनके बढे हुए स्मृति दोष के कारण उन्हे बतलाने लगे कि ये अमुक हैं और ये अमुक। आजीवन विलक्षण स्मरण शक्ति के धनी वाजपेयी जी का यह दैन्य हम सभीको मन ही मन मे कष्ट पहुचा रहा था। हममे ऐसा कोई भी नही था जिसे वे भली भाति न पहचानते हो। सम्भवत वाजपेयी जी को भी अपना यह स्मृतिदैन्य कही अखरा होगा, इसीलिए अपनी इस कमजोरी से उन्होंने सघर्ष भी किया। भूतपूर्व 'भारत' सम्पादक श्री बलभद्रप्रसाद मिश्र का नाम बतलाने से पहले ही वे उनसे सहसा मुसकराते हुए पूछ बैठे—"कहो—अर्द्ध दशानन के का हाल हैं ?" उनके यह पूछते ही हम लोग हस पडे। इस हसी के पीछे हमारी आस्था भरी खुशी चमक रही थी कि वाजपेयी जी रोग और आयुर्वार्द्धक्य की जडता से लडने में अब भी सक्षम और सचेत हैं। आयुर्वेदपचानन स्व० प० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल को विनोद मे वे 'अर्द्ध दशानन' कहा करते थे। (शुक्ल जी वय में पूज्य वाजपेयी जी से एक या दो वर्ष बडे थे। उनके स्वर्गवास का समाचार वाजपयी जी को नही बतलाया गया था।) मिश्र जी से उनके सम्बन्ध मे पूछकर वाजपेयी जी ने मानो यह जतला दिया कि उनकी याददाश्त अब भी ठीक-ठिकाने है। हम लोगो की हसी ने वाजपेयी जी के इस प्रश्न को टाल दिया। स्वाभाविक रूप से मिश्र जी उन्हे शुक्ल जी के स्वर्गवास का समाचार सुनाकर आघात नहीं पहुचाना चाहते थे। लौटते समय प० श्रीनारायण चतुर्वेदी, भगवती बाबू, मिश्र जी आदि सभी लोग उनकी जिन्दादिली की चर्चा करते

चले आ रहे थे, तभी मैंने कहा कि वाजपेयी जी के जीवन-काल में उनकी यह अन्तिम वर्षगाठ है। वाजपेयी जी अपने स्मृति-दोष को सह न पाएगे। इसके कारण उनका मानसिक कष्ट उन्हे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुचा देगा। इस बात को पूरे तीन महीने भी न गुजरे कि वाजपेयी जी अपनी इह लीला समाप्त करके चले गए। लेकिन इन तीन महीनो मे लगातार बीमार रहने हुए भी उन्होंने अपने-आपको कर्मठ और सचेत बनाए रखा। कल ही भारत सरकार के उपनिदेशक मित्रवर अशोक जी बतला रहे थे कि उनके आग्रह पर वाजपेयी जी ने लगभग एक महीना पहले 'आजकल' के लिए लिपि की समस्या पर एक लेख लिखकर भेजा था। वाजपेयी जी की यह कर्मठता मेरे लिए आदर्श की वस्तु भी रही है और ईर्ष्या की भी। बुजुर्गवार इस वय मे भी जितना काम कर लेते थे उतना मैं नही कर पाता था। वे आजीवन जवानी का प्रतीक बने रहे

लगभग सोलह-सत्रह वर्ष या उससे भी कुछ पहले वे हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास लिख रहे थे। एक दिन सवेरे ही टेलीफोन द्वारा उन्होंने मुझसे लखनऊ मे निकलने वाले हिन्दी के पुराने दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों के सम्बन्ध मे अपने यहा के पुराने लोगों से कुछ सूचनाए प्राप्त करने का आदेश दिया। बहुत-सी बातों की जानकारी तो मैंने घंटे-दो घंटे के भीतर ही सम्बन्धित लोगों के बगजो से प्राप्त कर ली, किन्तु एक 'पत्र' से सम्बन्धित जानकारी मैं उस समय न पा सका। घर लौटकर आने पर मालूम हुआ कि पूज्य वाजपेयी जी महाराज का फोन आया था। मैंने तुरन्त उन्हे फोन किया। अपना नाम बतलाकर प्रणाम निवेदन करते ही पडित जी ने मुझसे पूछा, "कहो, कुछ सफलता मिली ?" मेरा उत्तर सुनकर वे सन्तुष्ट हुए। मैंने कहा कि कल सवेरे सम्बन्धित व्यक्ति से मिल लेने के बाद तुरन्त आपकी सेवा मे पहुचूगा।

मगर उसी दिन सध्या के समय पूज्य पडित जी को अपने बैठके मे प्रवेश करते हुए देखकर एकाएक मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा, "पडित जी, आपने क्यो कष्ट किया ? मैं तो कल आता ही।"

सम्पादकाचार्य जी बोले, "बात यह है कि डाक्टर भगवानदास की मिज़ाज-पुर्सी के लिए हमें मेडिकल कालेज तक आना ही था, इसलिए हमने सोचा कि लाओ एक पथ दो काज करते चलें। और तुम्हारी एक भूल को भी हमे सुधा-

रना था, इसलिए चले आए।" गर्मी के दिन थे। मैं सोचने लगा कि लगभग तीन बजे के समय महाराज अपने घर से चले होंगे। इस वय में भी उन्हें लू या धूप की चिन्ता नहीं सताती। भारतरत्न डा० भगवानदास जी बीमार होकर मेडिकल कालेज में पड़े हैं। उनकी चिन्ता है, काम की सामग्री लाने की चिन्ता है और लगे हाथों मेरी एक भूल को सुधारने की चिन्ता भी है। भूल-सुधार मेरे लिए सचमुच ही बहुत महत्त्वपूर्ण था। तखत पर बैठे ही बैठे घर के सामने सड़क पार कम्पनी बाग की ओर सकेत करके बोले, 'तुमने यहा के पुराने वाजपेयी टोले का हाल 'नवजीवन' में लिखा था, उसमें विवाह की जो कथा तुमने लिखी है उसका सम्बन्ध विष्णु शर्मा से नहीं, बल्कि बुद्धिशर्मा से है। दोनों में चार पीढ़ियों का अन्तर था।"

मेरे पुराने घर के सामने वाला कम्पनी बाग समय-समय पर हिन्दी के दो महारथियों को पहले भी वहा की गदरपूर्व की बस्तियों का इतिहास बतलाने के लिए प्रेरित कर चुका था। एक दिन सहसा स्वत स्फूर्त उत्तेजना में स्व० निराला जी ने कम्पनी बाग के ऊंचे खाले से लखनऊ के प्रसिद्ध ऊंचे खाले के वाजपेयों का निकास, स्वजाति पर तीव्र व्यग्य करते हुए बखाना था। उनके बाद स्व० प० रूपनारायण जी पाण्डेय 'कविरत्न' भी एक दिन कम्पनी बाग में प्रेरित होकर पुराना इतिहास बखानने के मूड में आ गए थे। उन्हींसे वाजपेयी टोले और पडितवर विष्णु शर्मा की कथा सुनने को मिली थी।

मैंने जब पाडे जी का हवाला दिया तब बोले, "रूपनारायण ने सुनी-सुनाई बात बतलाई। हम अपने पुरखों का प्रामाणिक हाल बतलाते हैं ...."

उन्हें प्रसगवश पुरानी बातें सुनाने का बडा चाव था। हिन्दी और बगला पत्रकारिता का इतिहास तो वे सन्-सम्वत् और कभी-कभी तारीखों तक के साथ सटीक सुनाया करते थे। हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास उन्होंने अपनी स्मृति से ही लिखा था। उसे पूरा करते न करते ही दुर्भाग्यवश उन्हें पक्षाघात हो गया। वे पूरी तरह से स्वस्थ भी न हो पाए थे कि उनके जन्म दिन के उपलक्ष्य में हम लोगों ने एक सभा आयोजित की। श्रद्धेय सम्पूर्णानन्द जी उस सभा में आए थे। वाजपेयी जी भी एकदम अप्रत्याशित रूप में उपेन्द्र को साथ लेकर उस सभा में पहुच गए। हमारे उत्साह और आनन्द की सीमा न रही। उक्त सभा में स्वाभाविक रूप से उनके स्वास्थ्य और उनके द्वारा लिखे जाने वाले इतिहास

की चर्चा कई लोगों ने की। सम्पूर्णानन्द जी उस समय हमारे प्रदेश के शिक्षा-मन्त्री थे। उन्होंने कहा कि वाजपेयी जी की सहायता के लिए सरकार तीन-चार आदमियों को नियुक्त कर सकती है। वाजपेयी जी बोले, "हमें सरकारी सहायता की आवश्यकता नहीं। हमने तो जैसे-तैसे अपना काम पूरा कर डाला, अब सरकार यदि चाहे तो उस काम को आगे बढ़ा सकती है। हमें किसी चीज की आवश्यकता नहीं।"

सरकार फिर भला चाहने क्यों लगी। वह बात जहां की तहां ही रह गई। लेकिन वाजपेयी जी अपने काम से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हुए थे। किताब छप जाने के बाद भी वे बराबर उसका संशोधन-परिवर्द्धन करते ही रहे। दो तीन वर्ष पहले एक दिन उनसे मिलने गया तो देखा, वे अपने कागजों से जूझ रहे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि पत्रकारिता के इतिहास सम्बन्धी कुछ सामग्री उन्होंने अपनी स्मृति के खजाने से और निकाली है, जिसे यथास्थान सजो रहे हैं। उन्हें अपनी स्मृति से तब पहली बार शिकायत होने लगी थी। कहने लगे, "बहुत-सी बातें अब हम भूलने लगे हैं। उनका क्रम बिगड़ता है तो हमें कष्ट होता है। एक एक बात को बार-बार याद करना पड़ता है। उसमें कुछ छूट जाता है तो फिर याद करके जोड़ते हैं।"

वे बड़े स्वाभिमानी और खरी बात कहने वाले थे। जब वे उत्तर प्रदेश विधान परिषद के सदस्य मनोनीत किए गए तब उनसे कांग्रेस पार्टी में शामिल होने का आग्रह किया गया। वे बोले, "पत्रकार किसी पार्टी-वार्टी में शामिल नहीं होता। उसे तटस्थ और न्याययुक्त होकर ही सारी बातों का विवेचन करना चाहिए।" जीवन के अनेक दुख और महंगाई के कष्ट सहते हुए भी वाजपेयी जी ने किसीके आगे हाथ नहीं फैलाया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, उत्तर प्रदेश के प्रथम और द्वितीय मुख्यमन्त्री गोविन्द वल्लभ पन्त और डा० सम्पूर्णानन्द जी उनके प्रशंसकों में से थे। परन्तु वाजपेयी जी ने अपनी सुख सुविधा के लिए कभी उनसे कुछ न मांगा। इस भरे बुढ़ापे में रोग-जर्जर हो जाने पर भी वे लिखकर ही कमाते रहे। ईश्वर की दया से उनके सब पुत्र अपने रोजी-रोजगार से लगे हुए हैं फिर भी वाजपेयी जी बराबर यथाशक्ति लिखते कमाते ही रहे।

जिन दिनों वाजपेयी जी को पक्षाघात हुआ था उन दिनों मेरे यहां बाबा

राम जी नामक एक हठयोगी, कर्मयोगी साधु रहा करते थे। (किंचित् प्रकारान्तर से मेरे उपन्यास 'बूंद और समुद्र' में वे एक पात्र बनकर भी आए हैं तथा बन्धुवर राजेन्द्र यादव अपनी एक आलोचना में उन्हें अयथार्थवादी, अविश्वसनीय और काल्पनिक पात्र भी घोषित कर चुके हैं।) मैंने बाबा जी से वाजपेयी जी की बीमारी का हाल बतलाया। उनके रोग ने मेरे मन को अपराध भावना से जड़ीभूत कर दिया था। मुझे लगता था कि नगर के सांस्कृतिक जागरण के हेतु मैंने पूज्यवर को आवश्यकता से अधिक दौड़ाया-धुपाया और इसीसे वे बीमार पड़ गए। बाबा जी बोले, 'हम उन्हें फिर से जवान बना देंगे।" बाबा जी पंडित जी से वय में लगभग चार-पांच वर्ष बड़े थे, लेकिन वह दंड, कसरत आदि में जवानों के भी कान काटते थे। शरीर की मालिश करने में वह अपना सानी नहीं रखते थे। बाबा जी जाड़े के दिनों में तीन-साढ़े तीन बजे रात को चौक से नंगे बदन दौड़ लगाते हुए नज़रबाग, वाजपेयी जी के यहां जाते थे। वाजपेयी जी नियम से चार बजे उठकर उनकी प्रतीक्षा करते थे। बाबा जी के जोश दिलाने पर पंडित जी मालिश के बाद कसरत भी करने लगे। बहुत-से लोगों को यह भय हुआ कि पक्षाघात के बाद इस तरह से व्यायाम करने से कहीं वह अधिक रोगग्रस्त न हो जाए। लेकिन पंडित जी बाबा जी के इस सिद्धांत से सहमत थे कि जब तक शरीर में ठीक तरह से रक्त-संचार होता रहता है, और आंतें सशक्त तथा निर्मल रहती हैं, तब तक रोग और बुढ़ापा मनुष्य के पास तक नहीं फटकता। बाबा जी ने उन दिनों न जाने कितनी बार वाजपेयी जी महाराज के जोश-ए-जवानी की प्रशंसा करते हुए व्यायाम के प्रति मेरी लापरवाही को लताड़-लताड़कर लज्जित किया था। हमसे कहते, "वाजपेयी कहता है कि मनुष्य जियें तो काम करें, औ काम न करें तौ फिन काहे को जियें।"

खेद है कि जिस काम की लगन में पूज्य वाजपेयी जी ने अपना सारा जीवन खपा दिया उस काम ही को हम लोग भूल गए हैं। उनके अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। उनकी रचनाएं अब भी पुस्तकालयों की अलमारी में कहीं कोने-कोने में छिपी पड़ी होंगी। बहुत-से काम उन्होंने ही हिन्दी में आरम्भ किए थे। जहां तक मुझे ध्यान है हिन्दी का पहला व्याकरण पूज्य वाजपेयी जी ने ही लिखा था। उनकी पुस्तक 'हिन्दुओं की राजकल्पना' भी स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू राजतन्त्र' से पहले ही

प्रकाशित हुई थी। हमारी शिक्षा नीति पर भी उन्होंने एक पुस्तक रची थी फुटकर लेखो के अलावा लगभग १६-२० पुस्तके यत्र-तत्र बिखरी पडी है। हम अपने पूर्ववर्ती महापुरुषो की अथक श्रम-भरी लगन को गई-बीती निकम्मी वस्तु मानकर बराबर भूलते चल जा रहे है।

सन् १६३६ ई० मे काशी म हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन वाज। पेयी जी के सभापतित्व मे हुआ था। भारतरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा था, "वाजपेयी जी न हम लोगो को उस समय राजनीति की शिक्षा दी, जबकि बहुत से लोग यह भी नही जानते थे कि राजनीति किस चिडिया का नाम है।" मुझे याद है, उन्होने कहा था कि कलकत्ते के विद्यार्थी जीवन के दिनो मे वह (राजेन्द्र बाबू) प्राय पडित जी से मिला करते थे। कलकत्ता ही मुख्य रूप से पडित जी की कर्मभूमि रही है। यो उनका जन्म ३० दिसम्बर सन् १८८० ई० (पौष कृष्ण १४ सम्वत् १६३७) के शुभ दिन कानपुर मे हुआ था। वाजपेयी जी के पूर्वज गदर के दिनो मे लखनऊ छोडकर वहा जा बसे थे। पिता श्री कन्दर्प नारायण जी जीविकोपार्जन के लिए कलकत्ते जाकर बस गए। पण्डित जी की पढाई-लिखाई कानपुर, काशी और कलकत्ते मे हुई। सन् १६०० ई० मे उन्होंने एँट्रेन्स परीक्षा पास की। बडे भाई की मृत्यु से आगे की पढाई रुक गई। यो स्वाध्याय बराबर जारी रहा। सन् १६०२ मे वह फिर कलकत्ता पहुचे और लगभग तीन वर्षो तक इलाहाबाद बैंक मे काम किया। साथ ही 'हिन्दी-बगवासी' मे भी प्रवेश किया।

सन् १६०७ मे राजनीतिक मासिक 'नृसिंह' चलाया, जो लगभग एक वर्ष तक चल सका। आर्थिक कारणवश उसे बद करना पडा। १६०६ ई० मे 'बगाल नेशनल कौंसिल आफ एजुकेशन' के नेशनल कालेज मे हिन्दी-अध्यापक का काम शुरू किया। १६१० मे अध्यापन-कार्य छोडकर पुन १६११ की जनवरी मे 'भारतमित्र' के सम्पादक नियुक्त हुए। उसे साप्ताहिक से दैनिक किया। उस समय देश मे यही एकमात्र हिन्दी दैनिक पत्र था और हिन्दी दैनिको का अग्रदूत माना गया। इस प्रकार वाजपेयी जी ने हिन्दी पत्रकारिता की बुनियाद रखने मे जो भूमिका अदा की थी, सम्भवत उसीका ध्यान करके लोग-बाग आगे चलकर उन्हे श्रद्धापूर्वक सम्पादकाचार्य कहने लगे। यह कही से मिली हुई उपाधि नही है। पता नही कब और किसने यह लिखना शुरू किया।

१९१९ तक काम करने के बाद उन्होंने 'भारतमित्र' छोड दिया, क्योंकि उसका स्वामित्व 'सनातन-धर्म महामण्डल' के हाथो चला गया था। किसी धार्मिक पत्र का सम्पादक होना उन्हे स्वीकार नहीं था, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से वह अत्यन्त सयम-नियमशील उपासक है।

सन् १९२० मे 'इडियन नेशनल पब्लिशर्स लिमिटेड' मे उनके सम्पादकत्व मे दैनिक 'स्वतत्र' प्रकाशित हुआ। इस कम्पनी की स्थापना भी स्वय वाजपेयी जी ने धन-सग्रह करके की। १९३० मे सरकार ने पत्र मे जमानत मागी, जिसे अदा न करने के कारण पत्र जब्त हो गया।

इसी बीच १९२८ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के और १९३० मे इण्टर, बी० ए०, एम० ए० परीक्षाओं के परीक्षक नियुक्त हुए। तब से बराबर परीक्षक होते रहे। सन् १९४४ मे उन्होंने कानपुर मे अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-सम्मेलन का अध्यक्ष-पद सुशोभित किया।

इसके अतिरिक्त पण्डित जी ने बीस ग्रन्थ भी लिखे। उनका कार्य-क्षेत्र केवल लेखन तक ही सीमित नहीं रहा। राजनीति मे उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। राजनीति मे वह लोकमान्य तिलक के ही अनुयायी रहे। सन् १९१६ मे वह तिलक की होमरूल लीग के उपाध्यक्ष थे। १९१७ मे कलकत्ता काग्रेस की स्वागत-समिति के तथा सन् '१८ मे 'तिलक स्वराज्य सघ' के भी उपाध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी की सदस्यता भी उन्होने वर्षों तक की और सन् १९२१ मे वह जेल भी गए। देशबन्धु चितरजनदास, मौलाना आजाद और नेताजी सुभाष बोस उनके जेल के साथी थे। आजादी के बाद उ० प्र० विधान-परिषद के सदस्य भी बनाए गए। इस सदस्यता की सौदेबाज़ी मे सरकारी नेताओ ने उनसे काग्रेस पार्टी की सदस्यता स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया जिसे उन्होंने साफ शब्दो मे ठुकरा दिया। वाजपेयी जी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कभी किसीके मनमाने प्रतिबध स्वीकार नहीं कर सका।

जिस समय पूज्य पण्डित जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष-पद स्वीकार किया था, उस समय भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर हमारे राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्रो मे बडा खिचाव-तनाव था। पण्डित जी की निर्भीकता हमारे लिए प्रेरक शक्ति बनी। मिश्र-बन्धुओ ने अपने 'विनोद' मे पण्डित जी को पुरानी प्रथा का विचारक माना है, लेकिन मेरा अनुभव है कि

पण्डित जी नये समय को गति देने मे अब तक किसी नई प्रथा के विचारक से पीछे नही रहे। उनके काम के महत्व को अपने अज्ञान के कारण हम नये लोग अभी ठीक तरह से पहचान नहीं पाए हैं। क्या ही अच्छा हो यदि कलकत्ते के राष्ट्रीय पुस्तकालय या अन्य पुराने पुस्तकालयो मे सुरक्षित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेकर कोई उत्साही व्यक्ति पूज्य वाजपेयी जी तथा उनके पूर्ववर्ती और समकालीन सम्पादकों की सम्पादन-कला और विचार-प्रणालियो पर रिसर्च कर और नये पत्रकारो के सामने उस अमूल्य सामग्री को लाए। समाजवादी देशो मे ऐसे शोधकार्य अनिवार्य रूप से कराए जाते है। अपनी परम्पराओं की कड़ियों को सही तौर पर न जोड पाने वाला देश भला प्रगतिशील क्यो कर बन सकता है।

[१६६८]

महादेवी जी के सान्निध्य में

काव्य व्यक्तित्व के अतिरिक्त महादेवी जी के दर्शन भी पहले-पहल मुझे 'चाद' ही के माध्यम से हुए थे। एक चित्र की स्मृति अब तक सजीव है। महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान और चन्द्रावती लखनपाल का चित्र छपा था। यह त्रिपुटी उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थी। चन्द्रावती जी आज विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो चुकी है।

हिन्दी, बगला, गुजराती और मराठी की कविताए अब भी बडे चाव से पढता हू। देवनागरी लिपि मे प्रकाशित उर्दू काव्य पढने का चस्का भी 'चाद' ही की कृपा से लगा था, और अब तक है। पहले हिन्दी भाषा के अनेक नये-पुराने कवियों की बहुत सी कविताए मैंने याद भी की थी। महादेवी जी की 'मैं नीर भरी दुख की बदली', 'अश्रुमय कोमल, कहाँ तू आ गई परदेशिनी री' मैंने बहुत दिनों तक गुनगुनाई।

यह सब होते हुए भी उनके साक्षात् दर्शन पाने का सौभाग्य मुझे सन् '४२-'४३ से पहले न मिल सका। अगस्त आन्दोलन के कुछ महीनो बाद बम्बई से घर गया था और वहा से निराला जी के दर्शन करने प्रयाग। उन दिनो वे गैरिक वस्त्रधारी थे।

"महादेवी से मिले हो ?" उन्होंने पूछा। मेरे नकारने पर बोले, "चलो।"

इस प्रकार वर्षों की साध पूरी हुई। स्मृतिपट पर अब कुछ अंकित नही रह गया। तीन बातें याद है। एक महादेवी जी की हसी। ऐसा लगता था कि जैसे उनके साथ-साथ उनके भीतर वाली कोई शक्ति उनके हसने मे होड ले रही हो। हम लोग आम तौर पर फुहारे की ऊपरी खिलखिलाहट को देखकर ही प्रसन्न होते हैं, उसके स्रोत का उल्लासमय वेग नही देखते। गीत मे शब्द और राग दोनो ही की अपनी-अपनी महिमा भी है। भले ही गायक के मधुर कण्ठ रूपी व्यक्तित्व के प्रभाव मे वे एक रूप होकर झलके और उस प्रभाव की

महिमा अनन्य हो।

दूसरी बात फिल्मों से सबधित थी। आदरणीय भाई वाचस्पति जी पाठक उन्हे शायद कुछ ही दिन पहले यह बतला गए थे कि मैंने 'सगम' नामक एक तत्कालीन फिल्म मे प्रसाद जी का एक गीत ('अरे कही देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को) प्रयुक्त किया है। कहने लगी, 'निराला जी और पत जी के गीतों को भी फिल्मो म लेना चाहिए।

तीसरी बात अगस्त सन् '४२ के आन्दोलन से सबधित थी। अग्रेज सरकार ने 'भारत छोडो' आन्दोलन को बडी बेरहमी से कुचला था। महादेवी जी उन दिनो ग्राम सेवा-व्रतधारिणी थी। अपने अनुभव, दमनचक्र से भयभीत दीन-हीन किसानो की दशा का वर्णन करते करते एकाएक चुप हो गई, फिर कहने लगी, 'हमारा आन्दोलन अब शायद अनेक वर्षों तक अपनी शक्ति न पा सकेगा।"

इसके बाद प्रयाग जाने पर उनसे कई बार मिला। उसी दौर मे कब से मैंने उन्हे 'जीजी' कहना शुरु कर दिया यह अब याद नही आता।

जीजी फिर एम० एल० सी० हो गई। उनके लखनऊ आने जाने के बानक स्वाभाविक रूप से बनने लगे। जब आती, विधायक-निवास से उनका टेलीफोन-सदेश मुझे मिलता। मैं दर्शन करने जाता।

स्व० पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त उत्तर प्रदेश की राजगद्दी छोडकर दिल्ली की गद्दी सभालने जा रहे थे। विधायक निवास के 'कामन रूम' मे लेखकों, पत्रकारो और कलाकारो की ओर स उनका विदाई-समारोह मनाया गया था। कत्थक नटवरी नृत्य सम्राट श्री शम्भू महराज ने अपने नृत्य प्रदर्शन से सभी को मुग्ध किया। जीजी भी उस समाराह मे थीं। मुझपर जीजी का रोब गालिब देखकर समारोह के बाद महराज उनके पास गए और कहने लगे "देखिए, आप नागर जी को डाटिए, ये मेरा काम नही करवा देते।" जीजी ने महराज की तसल्ली के लिए मुझे तुरत ही डाटा। यह बात अभी कुछ ही महीनो पहले लखनऊ रेडियो केन्द्र के एक 'स्टाफ आर्टिस्ट' सगीतकार ने प्रसगवश सुनाकर मेरी याद ताजा की थी।

इसके बाद, सन्-सम्वत् ठीक-ठीक याद नही, शायद '५४ या '५५ की बात है, मगर यह याद है कि जून का अन्तिम सप्ताह था, धर्मवीर भारती साहित्य-

कार समद् द्वारा ताकुला नैनीताल मे आयोजित ग्रीष्म-शिविर के कार्यक्रमो मे भाग लेकर सीधे लखनऊ मेरे यहा आए थे। मैंने वहा के हाल-हवाल पूछे। भारती बोले, "वह सब भी सुनाऊगा पर पहले जीजी का एक आदेश सुन लीजिए। आपको पन्द्रह दिनो के अन्दर भारतेन्दु जी की जीवनी पर आधारित एक नाटक लिखना है। नाटक लिखकर तुरत इलाहाबाद आ जाइए। भारतेन्दु जी की जयती के दिन 'रगवाणी' का उद्घाटन समारोह होगा। समय कम है। नाटक का दिग्दर्शन भी आपको ही करना है।"

जुलाई के मध्य तक नाटक लिखकर मैं इलाहाबाद पहुच गया और टैगोर टाउन मे भारतभूषण अग्रवाल के यहा डेरा डाल दिया। उन दिनो पन्त जी भी टैगोर टाउन मे ही रहते थे। उनका तथा बालकृष्ण राव जी का घर भारत के घर के पास ही था। शाम को पत जी के घर पर हम सब इकट्ठा हुए। जीजी भी वहीं आ गई। नाटक सुना गया, सबको पसद भी आया। जीजी बोली, 'नाटक अच्छा है पर इसे रगमच पर भी अच्छा सिद्ध होना चाहिए। मामा (वरेरकर) बतलाते थे, मराठी का रगमच बहुत विकसित है। मैं उन्हे तो बुला ही रही हू पर और भी अन्य भाषा भाषी नाटककारो को बुलवाना चाहती हू।"

मैंने कहा, "मैं अपनी भरसक कोई कसर न रखूगा, आगे भगवान नटराज मालिक है।"

रात मे घर आकर इलाहाबाद के रग-कलाकारो के सबध मे भारतभूषण से मिसकौट की। वे उन दिनो आकाशवाणी मे काम करते थे। इलाहाबाद से पहले लखनऊ केन्द्र मे थे। रेडियो का ड्रामा प्रोड्यूसर होने से पहले भी अपने रेडियो नाटकों के रिहर्सल मैं स्वय ही कराने जाता था। भारत मेरी रुचि और आवश्यकताओ को भली भाति समझते थे। पात्रो के चुनाव मे उनकी सलाह आम तौर से बेचूक हुआ करती थी। सब पात्रो का चुनाव हो गया। अब बचे स्वय भारतेन्दु। वे समस्या बन गए। मैंने कहा, "बाह्य रूप से मेकअप मे तो उसे भारतेन्दु लगना ही चाहिए पर उनके आन्तरिक व्यक्तित्व का निरूपण भी उसे खूबी से करना चाहिए। यह पहली शर्त है। तभी मेरी जीत होगी।" मैं 'लगभग सच्चे' तक समझौता करने को राजी था पर इसके बाद नहीं। मैंने कहा, "मन का कलाकार न मिलने पर मैं नया नाटक लिख दूगा। और वह भी इस तरह

से कि मंच पर भारतेन्दु की अनुपस्थिति ही नाटक के इंच-इंच में उनकी उपस्थिति का आभास करा दे।" भारत बोले, "आप मेरी बात मानिए, विजय बोस को 'ट्राई' कर लीजिए। वे लगभग मञ्चेवाली आपकी शर्त पूरी कर देंगे। यदि आपको रिहर्सल में सन्तोष न हो तो फिर दूसरा नाटक लिख दीजिएगा।"

उस चिन्ता-भरी रात के बाद का सवेरा भी याद रखने लायक बन गया। लगभग साढ़े आठ-नौ बजे पंत जी पधारे। पहले तो वे नाटक और उसके लिए मेरी जालीदार पर्देवाली तरकीब की प्रशंसा करते रहे फिर हंसकर कहा, "बन्धु, बुरा न मानिएगा, महादेवी जी को आपके भाग के गोलों की बड़ी चिन्ता है। कहने लगीं कि भाग-वाग पीके सो गए और नाटक की तैयारी में कसर रह गई तो बड़ी बदनामी होगी। मैंने उनसे कह दिया है बन्धु, कि आप बन्धु की तरफ से बिलकुल चिन्ता न करें। मैं उन्हें बहोत अच्छी तरह से जानता हूं। पर आपसे भी कहता हूं बन्धु, आजकल जरा गोले-वोले कम चढ़ाइएगा। और कुछ नहीं तो कहीं तबीयत ही खराब हो जाए।"

मुझे बड़ी जोर से हंसी आई। पन्त जी से, मर्यादाबद्ध रहते हुए भी मैं मुक्त रूप से हंसी-मजाक कर लेता हूं, पर जीजी होने के बावजूद महादेवी जी से मेरा परिचय मात्र होने ही का नाता था। पंत जी की इस बात के पीछे मुझे जीजी का मनोचित्र उभरता दिखाई दिया। स्वप्नवादिनी तो वे हैं ही साथ ही अपने सपनों को साकार करने के प्रति वे बड़ी लगन हठीली भी हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ इसका प्रमाण है। मूल रूप में निराला जी को महत्त्व देने के लिए ही उन्होंने साहित्यकार संसद् की योजना बना डाली और उसे साकार करके ही दम लिया। हिन्दी रंगमंच की पुनर्स्थापना का स्वप्न उन दिनों उनके मनोलोक पर छाया हुआ था। लखनऊ में भारती से होनेवाली बातें उस समय मेरे मन में फिर गूंज उठीं। मैंने उसी दिन जाकर जीजी को अपनी ओर से शंका-मुक्त कर दिया। वहां भी खूब हंसी रही। खैर, दो-तीन रोज के भीतर जीजी यह जान गईं कि उनका रंगवाणी का सपना मेरा अपना सपना भी है।

मैं इस नाटक में नटराज उदयशंकर जी से सीखी हुई जालीदार पर्दे की, उस समय के हिसाब से नई, एक तरकीब का प्रयोग करना चाहता था। अपने बड़े बेटे चिरंजीव कुमुद से दो छोटे-छोटे नमूने के पर्दे रंगवाकर मैं साथ लाया

था। और पंत जी के घर पर जीजी, राव साहब (श्री बालकृष्ण राव) और उमा जी को उसका करिश्मा दिखला चुका था। जीजी को पर्दे की तैयारी के संबंध में शंका थी, कहने लगीं, "देखो, जैसा तुम चाहते हो वैसा बन जाए। इलाहाबाद तो बम्बई नहीं है।"

पेंटर की तलाश हो रही थी पर राव साहब का मन भर नहीं रहा था। एक दिन उमा जी कहने लगीं, "महादेवी जी कह रही थीं कि ट्रिक वाले पर्दे का मोह छोड़ ही दिया जाए तो अच्छा होगा। अगर खराब बना तो नाटक पर उसका दुष्प्रभाव भी निश्चित रूप से पड़ेगा।" लेकिन यहां मैं आसानी से समझौता करने को राज़ी न हुआ। राव साहब की शरण गही कि यह तो नाक का सवाल है, हमारी भी और आपकी भी। इलाहाबाद भले ही बम्बई न हो पर रेगिस्तान भी नहीं है। राव साहब की लगन भी जाग उठी। दो-तीन दिनों तक पेण्टर की खोज में वे इलाहाबाद का आकाश-पाताल एक करते रहे और अंत में बम्बई के एक फिल्म स्टूडियो में काम कर चुकने वाले एक रंगसाज़ को ही उन्होंने इलाहाबाद की गलियों से खोज निकाला।

शौकिया रंगमंच के कलाकारों को आम तौर से नाटक के 'टका' आयोजकों से यह शिकायत बनी ही रहती है कि रिहर्सल के दिनों में वे लोग कलाकारों के चाय-नाश्ते का प्रबन्ध उनके मनोनुकूल नहीं कराते। लेकिन यहां तो स्वयं महादेवी जी ही 'मालिक कम्पनी' थीं। नाश्ता कराने के लिए वे स्वयं आती थीं। अपने-अपने दफ्तरों से सीधे रिहर्सल स्थल पर आने वाले कला के भूतों को ऐसा संतोष कभी और कहीं नहीं मिला। पर मेरे लिए जीजी के कारण एक परेशानी भी पैदा हो गई। जलपान कराने के बाद वे रिहर्सल देखने के लिए बैठ जाती थीं। उनके रोब के मारे मेरे कलाकार काठ हो जाते थे। यह तमाशा दो दिनों तक चला। मैं घबराया पर यह घबराहट ऊपर की ही थी। मन को यह विश्वास था कि यदि जीजी से कहूंगा तो वे बुरा नहीं मानेंगी। और अपनी विपदा मैंने उनसे निवेदित भी कर दी। कहने लगीं, "अच्छा भाई, कल से नहीं बैठूंगी। पर नाटक के दिन बड़े-बड़े साहित्यिक आएंगे। तुम्हारे कलाकार जब मुझीसे इतना घबराते हैं तो उस दिन क्या होगा?"

मैंने कहा, "मुंह पर रंग पोतते ही अभिनेता शेर हो जाता है। उस दिन की चिन्ता आप न करें।"

दूसरे दिन हम लोगों को जलपान कराने के बाद जीजी तुरन्त उठ खड़ी हुईं। किसीने कहा भी कि थोड़ी देर विराजें परन्तु आप मेरी ओर देखकर हसती हुई बोली, "ना भाई, ये मुझे मना कर चुका है। कहता है कि कलाकार मेरी उपस्थिति के रोब से घबरा जाते हैं।" 'रोब' शब्द उच्चरित करते न करते उनकी हसी का झरना झर पड़ा।

मैंने अभिनेताओं को ललकारा। हमारी टोली के कलाकार सचमुच ही इलाहाबाद के नौरतन थे। जीजी की हसी मेरे हाथ मे चुनौती की तलवार बनकर खेली। और फिर तो ऐसा रिहर्सल जमा है कि मजा आ गया। एक दृश्य देखकर जीजी मगन मन गईं। उस दिन के बाद जलपान लेकर आना भी छोड़ दिया। जलपान-व्यवस्था के लिए कभी उमा जी, कभी दो लड़कियां और गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा कभी-कभी राव साहब तक उनकी ओर से बराबर उपस्थित होते रहे। वे स्वयं 'ग्राण्ड रिहर्सल' के दिन ही हॉल में पधारीं। हम शौकिया रंगमंच के गुनाह बेलज्जत ठोकरें खाने वाले प्रेमी जनों की कौम को ऐसा 'मालिक कम्पनी हाज़ा' बड़े नसीबों, बड़ी मुश्किल से मिलता है।

ग्राण्ड रिहर्सल के दिन वही हुआ जिसका कि जीजी को भय था, अर्थात् पर्दा अपना पूरा जादू न दिखा सका। अनिवार्य गड़बड़ियों को देखने के निमित्त ही मैं अपने द्वारा प्रदर्शित नाटकों के ग्राण्ड रिहर्सल मे भीतर नहीं बैठा करता था। मैं दर्शकों मे सबके पीछे अपनी कागज-पेन्सिल संभाले बैठा था। नाटक पूरा होते ही अगली पंक्ति मे मराठी के मूर्धन्य नाटककार स्व० मामा वरेरकर जी के साथ बैठी हुई जीजी के पास आया। उनका चेहरा उतरा हुआ था। मैंने कहा, "चिन्ता न करें, जो आज देखा है वह कल न देखें इसीलिए आज ही देख लिया। मेरा तो यही अभीष्ट था पर आप लोगों जैसी कलामर्मज्ञ महान विभूतियां भी भीड़ के साथ बेटिकट का तमाशा देखने घुस आई तो भला बत-लाइए मैं क्या करूं?"

मेरी विदूपकता से वातावरण कुछ बदल गया। मामा से मेरा घनिष्ठ परिचय था। उनकी उपस्थिति मे प्रदर्शित कमजोरियों के कारण जीजी के मन पर एक झेंप-सी चढ़ी हुई थी। मैं उनके मन को पहचान गया। मैंने कहा, "कलाकारों की छोटी-मोटी चूकें कल आपको न दिखाई देंगी।"

"यह तो मैं भी समझती हूं। अभिनेताओं से विशेष शिकायत आज नहीं

है। सबने अच्छा काम किया, कल शायद और भी अच्छा करेंगे। पर तुम्हारा पर्दा अन्तिम दृश्य में तो सचमुच बड़ा बुरा लगता है। दृश्य की करुणा को ही आघात पहुंचाता है। यह तो बहुत ही बुरा लगता है। एक प्रयोग किया, नहीं सफल हुआ, यह कोई लज्जा या दुःख की बात नहीं पर उसका प्रदर्शन करके नाटक का रस बिगाड़ना तो ठीक नहीं है। इससे तुम लोगों के कठिन परिश्रम के प्रति भी अन्याय होता है और दर्शकों के प्रति भी। तुम सादे नीले पर्दे का प्रयोग करो।"

जीजी का भय मेरे लिए निर्मूल था। दोष को दूर कर देना तनिक भी कठिन न था पर जीजी अब कुछ-कुछ हठ पकड़ गई थी। मैं चुप ही रहा। न 'हां' कहा न 'ना'।

दूसरे दिन नाट्य प्रदर्शन के बाद जीजी की संतोष-भरी, गर्व-भरी, आनन्द-मग्न श्रीमुख-छवि जो उस समय देखी थी वह मेरे मन मे इस समय भी वैसी ही सजीव होकर उभर रही है।

[१६६७]

:o:

हमारे घर के देवता : सुमित्रानन्दन पन्त

निराला जी सन् २६ के लगभग लखनऊ मे आ बसे थे। प्राय तभी से मै उनके यहा आने जाने लगा। निराला जी अर्वाचीन भारतीय कवियो मे यदि सर्वाधिक किसीकी बातें किया करते थे तो पत और गुरुदेव की। इन दोनो ही के प्रति वे होड मे, रीझ मे, रिसियान-खिसियान मे अक्सर बहुत कुछ कहा करते थे। सन् ३४ मे डॉ० रामविलास शर्मा यहा विश्वविद्यालय मे पढने के लिए आ गए। कुछ समय के बाद वे निराला जी के साथ ही रहने भी लगे। मेरी-उनकी घनिष्ठता वही से बढी। कभी-कभी नौजवानी के लहरे मे निराला जी को छेडने के लिए हममे से कोई पत या रविठाकुर की ऐंडी-बेंडी खोट निकालकर आप तरह देकर निकल जाता था और निराला जी ताव मे आकर हमें डेढ घण्टिया लेक्चर पिला देते थे। निराला को पत की अनेक कविताए कण्ठस्थ थी। गुरुदेव और पत की शान के खिलाफ वे किसीसे एक वाक्य नही सुन सकते थे, आप भले ही तैश मे आकर गाली तक दे बैठे। पत जी के प्रति मेरा भक्तिभाव निराला जी की देन है। मैं समझता हू कि डॉक्टर रामविलास के लिए भी यही एक बात कही जा सकती है।

उस जमाने मे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओ मे जितने अधिक और नये-नये चित्र पत जी के छपा करते थे उतने शायद किसी और के नही। अनेक हिन्दी-प्रेमी विश्वविद्यालयो के छात्रो ने अपने यहा पत के चित्र टाग रक्खे थे। मेरे लिए भी वर्षों तक पत जी चित्रमात्र काव्यमात्र बातें मात्र ही रहे।

सन् '४३ मे बम्बई मे पत जी के पहली बार दर्शन हुए। श्री उदयशकर के साथ वे बम्बई आए थे। बन्धुवर नरेन्द्र शर्मा से बम्बई मे मेरी घनिष्ठता बहुत बढ गई थी, उन्हींके साथ पत जी के दर्शन करने के लिए गया। कुछ दिनो बाद पत जी दूसरी बार बम्बई पधारे और नरेन्द्र जी के घर पर ठहरे। महीनो हमारी सुख की शामे बीती हैं। नरेन्द्र जी का घर मेरे घर से अधिक दूर न था। पत

जी शाम को वहा से चलकर मेरे यहा आते । मैं यह जानता था कि पत जी अकेले समुद्र के किनारे सैर करने नही जा सकते इसलिए जहा तक बनता, लाख काम छोडकर पाच बजे तक घर लौटने का समय साधता था, फिर भी कभी न कभी देर हो ही जाती थी । कम्पाउण्ड मे उनके लिए आराम कुर्सी रख दी जाती थी। पत जी मेरी लडकी अचला मे बातें किया करते थे । एक दिन मुझे लौटने में बहुत देर हो गई । जब घर आया तो पत्नी ने कहा कि पत जी बडी देर तक तुम्हारी राह देखकर चौपाटी पर गए है । मैं हारा-थका एक प्याली चाय पीने की लालच मे बैठ रहा परन्तु मन मे यह बराबर लग रहा था कि अकेले सैर करने मे पत जी को अवश्य अटपटा लग रहा होगा । तब तक पत जी भीड से बहुत घबराते थे । कुछ दिनो पहले ही नरेन्द्र जी पत जी के सामने उनका मजाक उडाते हुए मुझे यह सुना चुके थे कि एक बार पत जी कही भीड मे फस गए तो लौटकर नरेन्द्र जी से कहा कि, अरे नरेन्द्र वहा तो इतनी भीड थी कि देखो मेरे कोट का बटन टूट गया । चाय बन भी न पाई थी कि पत जी लौट आए । मैं सहम रहा था कि उनके चेहरे पर थकन और परेशानी होगी मगर पत जी तो उत्साह और उमग मे थे । अपने देर से आने की क्षमा भरी सफाई देते हुए मैंने बात उठाई, पत जी बोले, 'पहले तो मैं सोचता रहा कि अगर बन्धु नही आए तो फिर मेरा घूमना आज न हो सकेगा । फिर मैंने सोचा कि आज मैं अकेला ही चलू । अरे बन्धु, वहा तो वहो न लोग थे । मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ । इसीसे एक राउण्ड करके चला आया ।"

पहाड मे यानी अल्मोडा की तरफ हमजोली आपस की बातो को 'सुख दुख करना' कहते है । पत जी मेरी बाह पर हाथ रक्खे शिवाजी पार्क की चौपाटी पर एक छोर से दूसरे छोर तक चार छह चक्कर लगाते हुए मुझे अपने मन की बातें सुनाया करते थे, कभी अपने घर की, कभी इधर-उधर की, कभी सैद्धातिक —यही उनका सुख दुख करना था । मैंने कहा, "हा पत जी, सुख-दुख करना तो रह ही गया परन्तु पत जी, चौपाटी पर तो रोज ही इतने लोग रहते हैं, फिर आपने आज ही इतनी भीड क्यो देखी ?"

'रोज तो आप साथ मे रहते हैं इसलिए भीड पर ध्यान ही नही जाता, सुख-दुख करने मे ही मन लगा रहता है ।"

ऊपर से कहने-सुनने मे यह बात भले ही अटपटी लगे पर यह सच है कि पत जी जब अपने मे रम जाते हैं तो उन्हे बाहर के लगाव का होश नही रहता। जब पत जी का विचार-स्रोत फूटता है तो एक साथ सहस्र धाराए बह चलती हैं। पत जी की सुख-दुख के मूड वाली बातो और साधारण बातो मे निश्चित रूप से एक अन्तर होता है। सुख दुख मे प्राय वे ही बोलते थे, मैं सुनता था। पत जी की वाणी मे बात का रस मूर्त हो उठता था। मैं कोरी काव्यात्मक शैली में लफ्फाजी नही कर रहा वरन् यह सच है कि पत जी तब बच्चो के से सरल, भोले, माता के समान अमित करुणामय, हठयोगी साधक-से कठोर और प्रकृति के समान विविध चित्र-भरे होते है। तब किसी बात पर यदि उनकी 'ना' निकलती है तो वह हिमाचल-सी अडिग होती है। उनका स्वर अपनी सारी मिठास लेकर भी वज्रादपि कठोर हो जाता है। सुख दुख के क्षणो मे उनकी साधारण बातें भी निराली होती हैं।

सन् '४६ मे मद्रास मे उदयशकर जी की फिल्म 'कल्पना' के सवाद लिखने के लिए गया था। पत जी ने उसके गीत लिखे थे। हाल ही मे अपनी लम्बी बीमारी के बाद उन्होंने स्वास्थ्य-लाभ किया था। उन दिनो प्राय बडे खोए हुए रहते थे। उनके उदास चेहरे पर कान्ति विराजती थी। एक दिन बगले के लॉन मे मेरी बाह पर हाथ रखे मौन टहलते-टहलते वे सहसा खडे होकर सामने वाले वृक्ष को सिर उठाकर देखने लगे। क्रमश पत्तो के हेर फेर मे उनकी खोई आखो मे चमक बटने लगी। मेरी बाह पर पजे का उल्लास भरा दबाव बढा, उमग से बोले, "सामने देखिए बन्धु, कविताए झर-भर झर रही है।" उसके दस-पद्रह दिनो के बाद ही 'स्वर्ण-किरण' की कविताए कागज पर उतरने लगी।

पत जी ने मेरे औद्धत्य को अनेक बार अपनी करुणा मे बाधकर मुझे सतुलित किया है। वह सब कथा फिर कभी ठडे निर्लिप्त मन से लिख सका तो लिखूगा। पत जी ने मेरे बडे कठिन क्षणो को बडे ममत्व से दुलारकर हल्का बनाया है। मुझे बहलाने और उद्बोधन देने के लिए उन्होंने बम्बई मे मुझे नियमित रूप से डेढ-दो महीने तक कालिदास की रचनाए सुनाई हैं। मैंने महाकवि से 'रघुवश' पूरा सुना है और 'कुमारसभव' तथा 'मेघदूत' के अनेक अश। पत जी ने बडे प्रेम और आग्रह से मेरे उपन्यास 'महाकाल' के प्रूफ देखे हैं। 'बूद और

समुद्र में प्रूफ की अशुद्धिया देखकर बोले, "श्रीनिवास से कह देते कि मुझे प्रूफ भेजते रहते, मैं देख देता।"

मैंने कहा, "हा, अब आपको ऐसे ही कष्ट देकर तो मैं अपने लिए जस मोल लूगा न !"

सहज बोले, "क्यो, इसमें क्या हो गया बन्धु ?" मैं यह तो नही कह सकता कि सदा परन्तु प्रायः पन्त जी सहज स्वरूप रहते हैं। जहा वे अपनी सहजता खोते हैं वहा उनकी सीमाए भी सहज स्पष्ट हैं। उनका व्यक्तित्व इतना मधुर है कि उनकी छोटी-मोटी कमजोरिया भी मीठी लगती हैं। कोई मनुष्य पूर्ण नही होता, भले वह महापुरुष ही हो। यह सब होते हुए भी सहजभाव पत जी के व्यक्तित्व की दिव्य शक्ति है। मद्रास मे एक दिन शाम को जेमिनी स्टूडियो से लौटकर घर आया तो देखा बगले की सीढियो पर मेरी पत्नी और पत जी बैठे थे। पत जी का चेहरा चमक रहा था। मुझे देखते ही बोले, "अरे बन्धु, प्रतिमा जी को तो बहुत अच्छी-अच्छी कहानिया याद हैं। अब मैं रोज इनसे कहानिया सुना करूगा।" और उसके बाद कुछ दिनो तक तीसरे पहर कहानिया सुनने के लिए ऐसे अकुलाते थे जैसे बच्चे अकुलाते है। बन्धुवर नरेन्द्र जी और पत जी दोनो ही आपस मे एक-दूसरे का खूब मजाक उडाते हैं। बडा मजा आता है। मद्रास मे मैंने तमिल पढने के लिए एक अध्यापक रखा था। श्री कृष्णस्वामी मुदलियार काशी मे सेंट्रल हिन्दू स्कूल मे अध्यापक रह चुके थे, हिन्दी, बगला और फारसी भाषाए भी जानते थे। पत जी के प्रति उनका आदरभाव था। एक बार नरेन्द्र जी वहा थे। प्रात काल छह-साढे छह के लगभग जैसे ही मुदलियार जी मुझे पढाने आए वैसे ही पत जी ने कमरे मे प्रवेश कर धीमे स्वर मे उनसे पूछा, "पडित जी, तमिल मे सबसे बडे मूर्ख को क्या कहते हैं ?"

मुदलियार जी एक बार तो हक्के-बक्के होकर पत जी को देखने लगे फिर कहा, "मुट्टाड !" पत जी बच्चो की तरह हसे और शब्दो को दो बार दुहराकर चले गए। मुदलियार जी से न रहा गया, मुझसे पूछा, "पत जी ने ये शब्द क्यो पूछा ?"

मुझे हसी आ गई। मुदलियार जी बोले, "मैं तो इन्हे बहुत गभीर समझता था।" मैंने कहा, "गभीर तो वे हैं ही पर बडे विनोदी भी हैं।" उस दिन बार-

बार नरेन्द्र जी को मुट्टाड कहकर सबोधित किया गया और फिर कुछ वर्षों तक यह शब्द हमारे बीच मे खेलता रहा। नरेन्द्र जी की पत्नी सौ० सुशीला जी और मेरी पत्नी को वे हम लोगों से अपने पैरो मे महावर लगवाने का उपदेश दिया करते थे। मैं और नरेन्द्र जी एक तरफ तथा ये तीनो एक तरफ होकर घटो मज़ेदार वाक्‌युद्ध किया करते थे। पत जी के व्यक्तित्व ने मुझे ही नहीं मेरे घर भर को बहुत प्रभावित किया है। पत जी हमारे घर के देवता हैं।

[१९६०]

✕

यशपाल 'बड़ा ठोस आदमी है'

अंग्रेजी राज मे जब भारतरत्न स्व० पण्डित गोविन्दवल्लभ पत ने पहली बार यू०पी० की वज़ारत का कलमदान सभाला, तो क्रातिकारियो की लम्बी-लम्बी सज़ाए माफ करके उन्हे मुक्त कर देने के प्रश्न पर एक बार लाट साहब और पत जी मे तनातनी हो गई थी। मुझे इस घटना की याद इसलिए है कि मैंने अपने साप्ताहिक पत्र 'चकल्लस' के नवाबी मसनद' नामक स्तभ मे एक स्केच लिखा था। अग्रेजी राज मे काग्रेसी वज़ारत-आ जाने से एक नवाब साहब खुशामद मे काग्रेस के चवन्निया मेम्बर बन गए थे, लेकिन जब बम बनाने वाले मसलो पर साहबे आलीशान हुज़ूर लाट साहब ने नाराज होकर 'पथ जी' से वज़ारत का कलमदान छीन लिया तो नवाब साहब को यह हौलदिली हुई कि काग्रेस के मेम्बर बन जाने से लाट साहब कही नवाब साहब से नाराज़ न हो जाए। खैर, लाट साहब ने पत जी को वज़ारत का कलमदान वापस लौटा दिया और क्रातिकारियो को छोडने की आज्ञा भी दे दी। मुझे याद है, हमारे चौक मे मुक्त होनेवाले क्रातिकारियो का शानदार जुलूस अकबरी दरवाजे की तरफ से आया था। कोठेवालियो ने अपने अपने कोठो से और दूकानदारो ने अपनी दूकानो मे खडे होकर उनपर फूल बरसाए थे। जोगश चटर्जी, मन्मथनाथ गुप्त, शचीन्द्रनाथ बख्शी आदि के नाम याद आ रहे हैं, शायद कुछ एक और भी थे उनके नाम दुर्भाग्यवश इस समय ध्यान मे नही हैं। हा, यह अवश्य याद है कि यशपाल उस जुलूस मे नही थे। वे शायद उसके कुछ समय बाद जेल से छोडे गए थे।

क्रातिकारी यशपाल की मुक्ति और साहित्यिक यशपाल के उदय होने का समय मेरी स्मृति मे कहीं आस ही पास है। जहा तक ध्यान पडता है कलकत्ता के मासिक 'विश्वमित्र' मे उनकी पहली कहानी 'मक्रील' प्रकाशित हुई थी। अपनी पहली कहानी से ही यशपाल ने अपनी ऊची साहित्यिक हैसियत का

रचय दे दिया था।

यशपाल लखनऊ मे जम गए। हीवेट रोड पर बजरग बली के मन्दिर की बगल मे मकान लिया। सुना, अखबार निकाल रहे है। यह भी सुना कि अब वे जमकर लिखेंगे। यशपाल से मिलने की इच्छा शहर के हम सभी नौजवान लेखकों को थी। डॉ० रामविलास शर्मा, 'चकल्लस' मे मेरे साथी सपादक (स्व०) नरोत्तम नागर और हम सबमे जेठे, अवधी के अलबेले कवि (स्वर्गीय) बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', सभी यशपाल जी से बातें करना चाहते थे। एक दिन 'पढ़ीस' जी उनके घर पहुचे। वह यशपाल जी के काम करने का समय था। वे पढ़ीस जी से मिलने के लिए बाहर तो अवश्य आ गए, किन्तु उनकी बातो से पढ़ीस जी को यह अन्दाज लगा कि यशपाल जी से समय नियुक्त करके ही उनका मिलना उचित होता। हम लखनवी-अवधी सस्कारो के पले तरुण, विचारो से भले ही बड़े उग्र और प्रखर हो, लेकिन समय की सही कीमत हम लोग, तब कम जानते थे। शायद आज भी हमारे यहा समय की कीमत जानने वाला वातावरण नही बन सका है। खैर, उस समय हम लोग कुछ-कुछ बुरा मान गए। उनका साहबी रहन-सहन हमारी गपबाजी मे नुक्ताचीनी का विषय बना।

यशपाल का 'विप्लव' प्रकाशित हुआ। 'चकल्लस' सम्पादक के नाम पहले अक की प्रति मुझे मिली। मैंने अक पढ़कर एक पत्र मे अपनी प्रशसा व्यक्त की, साथ ही उनके क्रातिकारी व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रकट की। इसके बाद पूरे शिष्टाचार के साथ मिलने का समय मागा।

मुझे उनके कसे हुए चौड़े कपाल और उभरी ठोडी वाले तिकोने चेहरे प घनी काली रोबीली भौहो की अपने ऊपर पड़ने वाली पहली छाप खूब अच तरह से याद है। यशपाल अगर मुछमुडे न होकर पुराने पजाबियो की तरह मूछो वाले होते तो उनकी घनी मूछें जो असर डालती, वही असर उनकी टालती थी। यशपाल मे शिष्टाचार इस तरह से 'ए-बी-सी डी' नुमा थ लगता था जैसे जगल का शेर शहरी सभ्यता के रोजमर्राही सरकस के पकड़कर लाया गया हो, और शेर स्वय अपना ही रिगमास्टर बनकर नये स्थित जीवन की सारी बारहखडी पूरी सतर्कता के साथ दोहराता हे शिष्टाचार पक्ष के अलावा उनका एक दूसरा पक्ष जो बातो मे अरय उभरा, वह उनकी वैचारिक प्रतिभा का था। दो-चार बातो मे ही ए

पर वह मेरे मन को टक-से छू गए। मैंने उनका अधिक समय न लिया और चला आया। मुझे याद है, मैंने नरोत्तम नागर और रामविलास शर्मा, दोनों ही मित्रो से कहा था कि यशपाल जी हौवा नहीं हैं, मिलने लायक आदमी है।

यशपाल जी से मेरी घनिष्ठता मेरे बम्बई से लौटकर आने के बाद बढी। यशपाल जी का बेटा चिरजीव नन्दू मेडिकल कॉलेज मे बीमार पडा था। एक दिन यशपाल जी मुझे साइकिल पर आते हुए सिटी स्टेशन के चौराहे के पास मिले। मैं इक्के पर वहीं से चौक की ओर लौट रहा था। यशपाल जी को देखकर मैंने इक्का रोकवा लिया और इधर आने का कारण पूछा। नन्दू की बीमारी का हाल जानकर मैं अस्पताल मे उसे देखने गया। तब वह शायद तीन या चार बरस का था। कुछ ऐसे मजेदार ढग से मेरी और नन्दू की मुलाकात हुई कि हम पहली ही भेंट मे बडे दोस्त बन गए। सौ० प्रकाशवती भाभी से भी मिलने का अवसर मुझे तभी मिला।

सन् '५० या '५१ के आसपास सर्वश्री नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और कृष्ण नारायण ककड के प्रयत्नो से लखनऊ लेखक सघ की स्थापना हुई। उसकी बैठकें नियमित और जोशीली होती थीं। रचनात्मक सक्रियता और वैचारिक स्फूर्ति की दृष्टि से लखनऊ की साहित्यिक गतिविधियो के लिए वह समय उम्दा था। यशपाल जी को वैचारिक अतरगता मे पहचानने के लिए तब जल्दी-जल्दी अवसर मिलने लगे। भगवती बाबू और श्री आनन्द नरायन मुल्ला ने साहित्य समाज की स्थापना की थी। उसकी बैठको मे भी मिलना-जुलना होता रहा। इस प्रकार हम लोग क्रमश मन से एक-दूसरे के निकट आते गए।

यशपाल जी, भगवती बाबू और मेरे अपने अपने मत-मतान्तर है और अपनी-अपनी जीवन-दृष्टि है, फिर भी एक जगह पर हम तीनो आपस मे गहरा एका भी अनुभव करते है। हम तीनों का एक विशेष सौभाग्य रहा सम्पादकाचार्य स्वर्गीय अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी और 'सरस्वती' सम्पादक साहित्य-वाचस्पति रायबहादुर प० श्री नारायण जी चतुर्वेदी का वरदहस्त हमें अपने ऊपर प्राप्त रहा। प० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी हिन्दी सबधी कोई कार्यक्रम बनने पर चश्मे के ऊपर से अपनी पैनी आखें निकालकर मुझसे पूछते, "यशपाल को दिखाय लिया हैं न? यशपाल बडा ठोस आदमी है, ठोस सलाह देता है। कर्मठ है।" पूज्य वाजपेयी जी के इस कर्मठता और ठोसपन वाले मन्तव्यो को समझने लायक

प्रौढता तब तक मुझमे आ चुकी थी। अपने बम्बई जीवन मे मैं समय की कीमत जानकर घर लौटा था। वाजपेयी जी सदा इतने कर्मठ और समय के पाबन्द रहे कि वे दूसरे के इस गुण को भली भांति परख सकते थे। श्रद्धेय भैया साहब (चतुर्वेदी जी) यशपाल जी की हिन्दी निष्ठा के बडे प्रशसक है।

यह सच है कि राजधानी की राजनैतिक आधियो मे जब-जब हिन्दी पर सकट आया तब-तब स्थिति को सही और मजबूत ढग से सभालने के लिए इस नगर को यदि महा विभूतिया न मिलती तो शायद हमारा बहुत अमगल हो सकता था। भाषा जन की होती है, जब राजनीतिक शक्तिया अपनी बहक मे जन मे दूर हो जाती है तब भी भाषा उनसे कभी दूर नही होती। यशपाल जी के वे सस्मरण आगे कभी अपने भोगे हुए जीवन-काल का मूल्याकन करते हुए लिखूगा। पर उस सारे प्रसग मे यशपाल जी की कई विशेषताए बारीकी से पहचान मे आई। हर बात को यथार्थ की कसौटी पर कसना, हर काम को ठीक समय पर करने की चुस्ती, उनकी निश्चयात्मक बुद्धि, सूझबूझ आदि कई गुण निश्चय ही मेरे लिए अनुकरणीय रहे हैं। पूज्य वाजपेयी जी यशपाल की इन्ही विशेषताओं के कारण उन्हे ठोस कहते थे। भगवती बाबू और यशपाल जी के 'एक्शन' सबधी विचार अक्सर समान होते थे। मुझे अपनी चौकशाही मुरौवत के दायरे से निकलकर यथार्थ को उसे सही बोध के साथ स्वीकार करके 'एक्शन' का क्षण न चूकने की ट्रेनिंग इन्ही अग्रजो से मिली। हम तीनो मे एक भी व्यक्ति सकीर्णतावादी नही है। हम तीनो ही आपस मे अपने दृष्टिकोणो को खूब साफ रखते हैं।

यशपाल जब पहली बार सोवियत यूनियन के देशो का भ्रमण करके लौटे तो नगर महापालिका के पुराने सभागार मे एक सम्मान-सभा आयोजित हुई थी। हॉल खचाखच भर गया था। हमने यशपाल से एक नई दुनिया का हाल सुना। यशपाल जी ने कर्मठ और सम्पन्न रूसी जीवन के ऐसे जीते-जागते चित्र उस सभा मे प्रस्तुत किए थे कि हम लोग मन्त्रमुग्ध होकर सुनते रहे। मुझे याद है कि कलकत्ता युनिवर्सिटी के हिन्दी विभागाध्यक्ष स्व० प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल, जो उन दिनो यहा पर थे, हमारे साथ यशपाल जी का भाषण सुनने के लिए गए थे, वे उस भाषण की भूरि-भूरि प्रशसा करने लगे। यह सच है कि उस दिन का ऐसा भाषण मैंने भी यशपाल जी से कम ही सुना है।

उस घटना के वर्षों बाद जब सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार प्राप्त करके वे प्रकाशवती भाभी के साथ रूस-यात्रा पर गए तो वहां से अपनी पुस्तकों की रूसी रायल्टी के पैसे पर वे सौ० बेटी, दामाद और दोहते से मिलने के लिए कैलीफोर्निया भी गए थे। लौटकर आने पर भगवती बाबू, ज्ञानचन्द जैन और मैं यशपाल जी से मिलने के लिए उनके घर गए।

मैंने पूछा—"आप रूस कई बार हो आए है अब की अमेरिका की एक झलक भी देख ली। संक्षेप मे आप से दोनों का तुलनात्मक अध्ययन चाहता हू।"

यशपाल बोले, "मुझे दोनों ही जगह सम्पन्नता अधिक दिखलाई दी। अमेरिकी मजदूर दस से बारह डालर तक रोज कमा लेता है। अपने ढग से वे भी समाजवाद की ओर ही बढ रहे हैं। वैसे सोवियत यूनियन के देशों का केवल पचास वर्षों मे और वह भी महायुद्ध का झटका सहकर, अपने आपको समृद्ध बना लेना हौसला दिलाने वाली बात है। मेहनत मे अमेरिकी भी कम नही है। रूसी-अमेरिकी दोनों ही काम और मेहनत करना जानते हैं, साथ ही मौज मनाना भी।"

यशपाल जी की यह बाते सुनकर हम सभी को लगा कि केवल कामकाजी और कठिन परिश्रमी राष्ट्र के लोग ही जीना जानते है। निकम्मे बुल्लडिया को न जीना आता है न मरना। अपनी सैद्धातिक विजय के लिए भी किसी राष्ट्र को पहले सगठित और शक्ति-श्रीसपन्न बनना ही पडता है।

हिंदी के यशपाल केवल हिन्दी के ही नहीं रहे। उनका नाम सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं, योरप की अनेक भाषाओं तथा सिंहली, जापानी आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएं और पुस्तक पढने वाले पाठकों के लिए भी अब एक प्रिय और सम्मानित नाम हो चुका है। यशपाल और भगवतीचरण वर्मा को पाकर यह नगर धन्य है।

प्रकाशवती भाभी सचमुच उनकी सहधर्मिणी है। यशपाल जी के जीवन में वे इस तरह से घुली मिली है कि उनके बिना यशपाल जी को सोच पाना भी मुझे असभव लगता है। इतनी कुशल व्यवस्थापिका, शात, गम्भीर और व्यावहारिक स्त्री कम ही देखने को मिलती हैं। मेहनत करने मे भाभी पक्की पजाबिन है। यह हकीकत है कि भाभी ने प्रेस और प्रकाशन का सारा काम-काज सभालकर यशपाल जी को लेखक बना रहने के लिए अपनी ओर से पूरी आजादी दे रखी है।

यशपाल और सौभाग्यवती भाभी अब अपने घर में चि० नन्दू और सौभाग्यवती बहूरानी की निगरानी में आ गए हैं। उनका सबसे बड़ा गाजियत उनका चि० पोता है, वह एक कठिन श्रम-तप से तपे दाम्पत्य जीवन को उचित सुख-शान्ति दे रहा है।

[१९७०]

चिरयुवा भगवतीचरण वर्मा

भगवती बाबू आयु मे मुझसे एक युग और कुछ महीने बडे हैं। इस हिसाब से वे मेरे छोटे चाचा भी हो सकते थे और बडे भाई भी। चूकि हम लोग हिन्दी की नातेदारी स मिले, इसलिए वे मेरे बडे भाई बने। आपसी सम्बोधन मे मैं उन्हे गुरु कहता हू और वे मुझे। न भगवती बाबू मुझसे मजाक करने मे चूकते हैं और न मैं उनसे। यह होते हुए भी बडे भाई वे सवा सोलह आने है, जिस किसीने भी मुझपर उन्हे रोब जमाते देख लिया होगा, वह ही मेरी बात का समर्थन करेगा।

हमारा एक रिश्ता और है, भगवती बाबू 'नेता' हैं और मैं 'जनता'। उनके नेतृत्व मे मैंने अनेक तरह के काम किए हैं—साहित्यिक आयोजन, नाटक, 'गॉसिप' और चकल्लस तो रोज ही होती है। स्कीमो के वे सम्राट है, किसी भी प्रकार के धधे की स्कीम वे मिनटो मे बना देते हैं। लेकिन यह शर्त होती है कि कम से कम पच्चीस हजार रुपयो की स्कीम बनाते हैं, इससे कम की स्कीम बनाना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। पच्चीस हजार से पचीस-पचास करोड तक का हिसाब वे इतनी तन्मयता के साथ फैलाते हैं कि मालूम पडता है कि अभी अपने मुनीम को बुलाकर वे तुर्त फुर्त चेक ही काट देंगे।

एक बार बम्बई मे उन्हे फिल्म प्रोड्यूसरो पर ताव आया, कहने लगे, "इन लोगो को जवाब देने के लिए एक फिलम कम्पनी खोलनी ही पडेगी।" उस समय तक भगवती बाबू गभीर थे। कुछ पूजीपतियो से गभीरतापूर्वक बात भी चलाई, किन्तु बात पक न सकी। उन्हें पूजीपतियो पर भी ताव आ गया। एक दिन शाम को शिवाजी पार्क स्थित मेरे घर पर बैठकर उन्होंने कहा, "गोली मारो जी इन सेठो को, मैं जनता के पैसे से फिलम कम्पनी खोलूगा।"

मैंने पूछा, 'क्या दस दस रुपये वाले शेयर बेचिएगा ?"

बोले, "नहीं, इसमें बहुत समय जाएगा, सोचता हूँ कि एक ऐसी इंश्योरेन्स कम्पनी खोलूं जिसमें मिडिल क्लास ही नहीं, बल्कि गरीब से गरीब मजदूर-घसियारा भी अपनी जान का बीमा करा सके।"

मैंने कहा, "मजदूर-घसियारे आपकी कम्पनी का प्रीमियम कैसे अदा कर सकेंगे?" प्रश्न पूछते हुए मैं अब इन्हीं लहर में उतर आया था।

भगवती बाबू बोले "इसमें सोचने की बात ही क्या है, वो तो मैं पहले ही तय कर चुका। हम घसियारों की इंश्योरेन्स स्कीम चलाएंगे, रोज एक पूला घास उनसे प्रीमियम के तौर पर वसूल की जाएगी। मजदूरों को खैर हम लोग बाद में इंश्योर करेंगे जब हम लोग कम्पनी की बिल्डिंग बनवाएंगे तब। इसके अलावा फल-तरकारी वालों से फल-तरकारियों का प्रीमियम लेंगे। प्राइवेट ट्यूटरों से एक ट्यूशन की फीस लेंगे। हम कम्पनी की तरफ से रेडीमेड कपड़े भी सिलवाया करेंगे। मोचियों से जूते गठवाएंगे। एक लाण्ड्री भी खोल देंगे। धोबियों का प्रीमियम धुलाई में आएगा। अरे बिजनेस करने वालों के लिए काम की कमी नहीं है, स्कीम अच्छी होनी चाहिए।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, हलवाइयों को भी शामिल कर लीजिए, उनसे मिठाई का प्रीमियम मिलेगा।"

बोले, "नहीं, तुम भंग छानते हो, गबन करोगे, मुफ्त में तुम्हारे विरुद्ध पुलिस केस तैयार करवाना पड़ेगा।"

इस बात का जवाब भला मैं क्या देता? अपनी कमजोरी से इन्कार तो कर ही नहीं सकता था, लिहाजा बात आगे बढ़ाई। पूछा, "इन धंधों में ही आप फंस जाइएगा, तो कम्पनी कब खुलेगी?"

बोले, "पहले समझने की कोशिश करो। इंश्योरेन्स कम्पनी का काम बढ़ जाने पर हम उसके पैसे से एक बैंक खोलेंगे और फिर किसी फिल्म स्टूडियो को गिरवी रखेंगे और ब्याज में वहां फिल्म बनाएंगे।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, स्टारों का क्या होगा? उन्हें कहां से रुपया दिया जाएगा?"

बोले, "मोची-घसियारों की तरह उनका भी इंश्योरेन्स किया जाएगा। *यह जनता का राज है। हम सबके साथ एक-सा ही व्यवहार करेंगे।* अरे, तुम समझते क्या हो जी! पचास करोड़ की कैपिटल से फिर एक कच्ची फिल्म

उत्पादन का कारखाना, कैमरे, साउंड मशीन बनाने का कारखाना, स्टूडियो, फिल्म-कम्पनी सभी कुछ खुल जाएगा।"

इस प्रकार बीमा कम्पनी, बैंक, फिल्म-स्टूडियो और फिल्मी कारखाने चालू हो गए, हम लोगो की तनख्वाहे निश्चित हो गई, कुछ फिल्म-स्टारो का भाव चढा दिया गया, कुछ का गिरा दिया गया। दो-तीन घंटो मे जबानी दुनिया पर बडा उलट-फेर करके बात आई गई हो गई। उनकी यह स्कीम मित्रो मे अति प्रचारित हुई। स्कीम आज तक समाप्त नही हुई, केवल कभी फिल्म-स्टूडियो के बजाय प्रेस और अखबार चल जाता है, कभी राजनीति की शतरंज ली जाती है और कभी विश्व राष्ट्रसघ की टक्कर मे विश्व जनसघ या बैंक खुल जाता है।

इन योजनाओ के पीछे भगवती बाबू का चुहल-भरा दिमाग तो चलता ही है, पर अक्सर वे बडी ठोस योजनाए भी बनाते हैं। लेकिन उन योजनाओ को कार्यरूप मे परिणत कर देना उनके वश की बात नही। भगवती बाबू यदि कवि न हुए होते, तो आज वे आई० सी० एस० अफसर भी हो सकते थे और राजनीतिक नेता—मत्री भी। आरभ मे यदि अनुकूल परिस्थितिया मिल जाती तो शायद वे सफल उद्योगपति भी हो सकते थे। उनके व्यक्तित्व मे तीनो की विशेषताए है, पर दुनियादारी की दृष्टि से दुर्भाग्य है कि भगवती बाबू शुरू मे ही कवि निकल गए। अच्छा हुआ, व्यक्ति का दुर्भाग्य साहित्य का सौभाग्य बन गया।

भगवती बाबू से मेरा प्रथम परिचय सन् १९३४ मे 'माधुरी' कार्यालय मे हुआ। श्रद्धेय रूपनारायण जी पाडेय 'माधुरी' के सम्पादक थे, भगवती बाबू उनसे मिलने के लिए आए थे। उनकी 'चित्रलेखा' हाल ही मे प्रकाशित हुई थी और मैं उसके परम प्रशसको मे से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है, बात 'चित्रलेखा' को लेकर ही आरम्भ हुई। पहले तो भगवती बाबू 'तुम क्या सम-झोगे' वाले मूड मे रहे, परन्तु मेरी दो-एक बातो ने उन्हे शायद बाध लिया। पाडेय जी ने उपन्यास की प्रशसा मे बहुत कुछ कहा, इसलिए सब मिलाकर भगवती बाबू का मूड बन गया। 'माधुरी' कार्यालय से उठते हुए उन्होंने मुझसे 'चलते हो' इस अन्दाज से कहा, मानो हमारी पुरानी घनिष्ठता हैं। अनायास ही भगवती बाबू से यह अपनापन पाकर मैं बडा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होने की

बोले, "नहीं, इसमें बहुत समय जाएगा, सोचता हूं कि एक ऐसी इश्योरेन्स कम्पनी खोलूं जिसमें मिडिल क्लास ही नहीं, बल्कि गरीब से गरीब मजदूर-घसियारा भी अपनी जान का बीमा करा सके।"

मैंने कहा, "मजदूर घसियारे आपकी कम्पनी का प्रीमियम कैसे अदा कर सकेंगे ?" प्रश्न पूछते हुए मैं अब हल्की लहर में उतर आया था।

भगवती बाबू बोले, "इसमें सोचने की बात ही क्या है, वो तो मैं पहले ही तय कर चुका। हम घसियारों की इश्योरेन्स स्कीम चलाएंगे, रोज एक पूला घास उनसे प्रीमियम के तौर पर वसूल की जाएगी। मजदूरों को खैर हम लोग बाद में इश्योर करेंगे जब हम लोग कम्पनी की बिल्डिंग बनवाएंगे तब। इसके अलावा फल-तरकारी वालों से फल-तरकारियों का प्रीमियम लेंगे। प्राइवेट ट्यूटरों से एक ट्यूशन की फीस लेंगे। हम कम्पनी की तरफ से रेडीमेड कपड़े भी सिलवाया करेंगे। मोचियों से जूते गठवाएंगे। एक लाड्री भी खोल देंगे। धोबियों का प्रीमियम धुलाई में आएगा। अरे बिजनेस करने वालों के लिए काम की कमी नहीं है, स्कीम अच्छी होनी चाहिए।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, हलवाइयों को भी शामिल कर लीजिए, उनसे मिठाई का प्रीमियम मिलेगा।"

बोले, "नहीं, तुम भंग छानते हो, गबन करोगे, मुफ्त में तुम्हारे विरुद्ध पुलिस केस तैयार करवाना पड़ेगा।"

इस बात का जवाब भला मैं क्या देता ? अपनी कमजोरी से इन्कार तो कर ही नहीं सकता था, लिहाजा बात आगे बढ़ाई। पूछा, "इन धंधों में ही आप फंस जाइएगा, तो कम्पनी कब खुलेगी ?"

बोले, "पहले समझने की कोशिश करो। इश्योरेन्स कम्पनी का काम बढ़ जाने पर हम उसके पैसे से एक बैंक खोलेंगे और फिर किसी फिल्म स्टूडियो को गिरवी रखेंगे और ब्याज में वहां फिल्म बनाएंगे।"

मैंने कहा, "भगवती बाबू, स्टारों का क्या होगा ? उन्हें कहां से रुपया दिया जाएगा ?"

बोले, "मोची-घसियारों की तरह उनका भी इश्योरेन्स किया जाएगा। यह जनता का काम है। हम सबके साथ एक-सा ही व्यवहार करेंगे। अरे, तुम समझते क्या हो जी ! पचास करोड़ की कैपिटल से फिर एक अच्छी फिल्म

उत्पादन का कारखाना, कैमरे, साउंड मशीन बनाने का कारखाना, स्टूडियो, फिल्म-कम्पनी सभी कुछ खुल जाएगा।"

इस प्रकार बीमा कम्पनी, बैंक, फिल्म-स्टूडियो और फिल्मी कारखाने चालू हो गए, हम लोगों की तनख्वाहें निश्चित हो गईं, कुछ फिल्म-स्टारों का भाव चढ़ा दिया गया, कुछ का गिरा दिया गया। दो-तीन घंटों में ज़बानी दुनिया पर बड़ा उलट-फेर करके बात आई-गई हो गई। उनकी यह स्कीम मित्रों में अति प्रचारित हुई। स्कीम आज तक समाप्त नहीं हुई, केवल कभी फिल्म-स्टूडियों के बजाय प्रेस और अखबार चल जाता है, कभी राजनीति की शतरंज ली जाती है और कभी विश्व राष्ट्रसंघ की टक्कर में विश्व जनसंघ का बैंक खुल जाता है।

इन योजनाओं के पीछे भगवती बाबू का कुहल-भरा दिमाग तो चलता ही है, पर अक्सर वे बड़ी ठोस योजनाएं भी बनाते हैं। लेकिन उन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत कर देना उनके वश की बात नहीं। भगवती बाबू यदि कवि न हुए होते, तो आज वे आई० सी० एस० अफसर भी हो सकते थे और राजनीतिक नेता—मन्त्री भी। आरंभ में यदि अनुकूल परिस्थितियां मिल जातीं तो शायद वे सफल उद्योगपति भी हो सकते थे। उनके व्यक्तित्व में तीनों की विशेषताएं हैं, पर दुनियादारी की दृष्टि से दुर्भाग्य है कि भगवती बाबू शुरू से ही कवि निकल गए। अच्छा हुआ, व्यक्ति का दुर्भाग्य साहित्य का सौभाग्य बन गया।

भगवती बाबू से मेरा प्रथम परिचय सन् १९३४ में 'माधुरी' कार्यालय में हुआ। श्रद्धेय रूपनारायण जी पांडेय 'माधुरी' के सम्पादक थे, भगवती बाबू उनसे मिलने के लिए आए थे। उनकी 'चित्रलेखा' हाल ही में प्रकाशित हुई थी और मैं उसके परम प्रशंसकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है, बात 'चित्रलेखा' को लेकर ही आरम्भ हुई। पहले तो भगवती बाबू 'तुम क्या सम-झोगे' वाले मूड में रहे, परन्तु मेरी दो एक बातों ने उन्हें शायद बांध लिया। पांडेय जी ने उपन्यास की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा, इसलिए सब मिलाकर भगवती बाबू का मूड बन गया। 'माधुरी' कार्यालय से उठते हुए उन्होंने मुझसे 'चलते हो' इस अन्दाज़ से कहा, मानो हमारी पुरानी घनिष्ठता है। अनायास ही भगवती बाबू से यह अपनापन पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होने की

बात ही थी। भगवती बाबू उस समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे और मैं नया-नया ही छापे की दुनिया में आया था। हजरतगंज में हम लोगों ने एक जगह पान खाए और टहलते हुए ही कैसरबाग के चौराहे तक आए।

इसके बाद एक बार कानपुर में हिवेदी जी के यहां दर्शन हुए, फिर एक बार इलाहाबाद में।

सन् '३८ या '३९ में उनके चचेरे भाई का आपरेशन लखनऊ मेडिकल कालेज में हुआ था, भगवती बाबू तब शायद एक या दो महीने लखनऊ में जमकर रहे थे। मेडिकल कालेज से मेरा घर पास पड़ता था। भगवती बाबू अक्सर मेरे यहां चक्कर लगा जाते थे। उन दिनों की एक बात नहीं भूलती। एक दिन बोले, "यार, कहीं से पैसे आने चाहिए।" मैंने कहा, "गंगा पुस्तकमाला में ही प्रबन्ध हो सकता है। चलिए, दुलारेलाल जी के यहां चलें।" बोले, "तुम क्या समझते हो कि मेरे मन में यह बात नहीं उठ सकती थी? मैं पहले ही हो आया। भार्गव एडवांस नहीं देना चाहते, किताब मांगते हैं, किताब ही होती तो मैं भार्गव के पास जाता।" दूसरे दिन सवेरे-सवेरे ही वे मेरे यहां आए बोले, "नोट-बुक खरीद ली है, एक कविता-संग्रह आज ही कम्पलीट कर डालूगा।" मुझे हंसी आ गई, भगवती बाबू बोले, "तुम क्या समझते हो, अतुकान्त कविताएं लिखने में भला समय लगता है। आज खींचे डालता हूं।" दूसरे दिन शाम को भगवती बाबू फिर आए, बादशाही मूड में थे, उनकी जेब में पैसे थे, बोले, "भार्गव को कविता-संग्रह दे आया।' मुझे आश्चर्य हुआ। भगवती बाबू हंस पड़े, बोले, "अरे, कविता लिखने में कुछ लगता है। पहले मैंने नोट-बुक के पृष्ठों को गिना, फिर उतनी ही कविताएं लिख डाली और संग्रह का नाम 'एक दिन' रख दिया, क्योंकि एक ही दिन में कम्पलीट किया था।" उस समय मैं भले ही हंसा होऊं परन्तु आज के काव्य कला-मानों को देखकर अब तो यही कहना पड़ता है कि हमारे नेता जी ही प्रगतिशील, प्रयोगशील और नई कविता के बाबा आदम हैं।

भगवती बाबू ने तब से अब तक पद्य की अनेक सुन्दर और श्रेष्ठतम रचनाएं हमें दी हैं, पर मैं उनके 'एक दिन' को एक दूसरी दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानता हूं। यह महत्त्व उनकी मस्ती का है जो उन्हें हर स्थिति में अजेय बनाकर रखती है। मैं उनकी मस्ती के संबंध में अधिक क्या कहूं, इतना कहना

ही यथेष्ट है कि भगवती बाबू के कारण बडी से बडी निराशा पाने पर भी मैं कभी बुझ नहीं पाया। उनकी जिंदादिली मेरा आदर्श है। जीवन की विषमतम मारें खाए हुए मेरे इस बडे भाई के चेहरे पर आपको एक भी कठोर रेखा न दिखाई देगी। जीवन की बडी-बडी पराजयों के कालकूट को हिन्दी का यह भोलाभंडारी और मस्त कलाकार न जाने कितनी बार हंस-हंसकर पचा चुका है। कभी-कभी हृदय भर जाने पर विवश होकर अपने अन्तरंग मित्रों के बीच मे भगवती बाबू अपने दिल की बातें भी कर लेते है, मुझे इस समय ऐसी अनेक स्मृतिया स्पर्श कर रही हैं। उनका बचपन, नौजवानी और जवानी अर्थ-पिशाच के साथ निरन्तर जूझने ही बीती है। भगवती बाबू ने ऐसे भी दिन देखे हैं जबकि एक कुप्पी मिट्टी का तेल खरीदने की सामर्थ्य न होने के कारण महीना उनके यहा चिराग नहीं जला। भगवती बाबू ने कब-कब कितना सहा है यह सब इस छोटे से स्केच मे कहा नही जा सकता। एक दृष्टि से देखा जाए तो उन बातों का विशेष महत्त्व भी नहीं है। निखार पाने के लिए सोने को भट्ठी में तपना ही पडता है, लोक-पूजित होने वाली देवमूर्ति पहले अपने निर्माता शिल्पी के हज़ार हथौडों की चोट सहती है तब जाके सवरती है। 'भूले-बिसरे चित्र' और 'सीधी-सच्ची बातें' जैसे उपन्यास वही समर्थ कलाकार रच सकता है जो अनुभव-सिंधु को अगस्त्य के समान आचमन कर सके। यह दोनों उपन्यास अपने-आपमे सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी यदि मिलाकर पढे जाए तो पिछले ८०-९० वर्षों मे हमारे बदलते हुए सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्यों की एक क्रमबद्ध कहानी बन जाते हैं। 'भूले बिसरे चित्र' और 'सीधी-सच्ची बातें' उपन्यास साहित्यिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही भावी इतिहास-लेखक के लिए १९वी शती के अन्तिम डेढ दशकों से लेकर सन् १९४८ ई० तक की प्रामाणिक सामग्री सजोने के कारण उनकी गरिमा और बढ गई है। भगवती बाबू की लेखनी केवल इसी काल तक का जीता-जागता रूप प्रस्तुत करके विश्राम नहीं करना चाहती वरन काल-कथा का क्रम अटूट रखने के लिए वह अब और आगे बढ रही है। आजकल वे प्रथम स्वतन्त्रता-दिवस से लेकर नेहरू युग तक की कहानी एक उपन्यास के रूप मे सजो रहे हैं। उपन्यास के आरम्भिक अध्याय सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। उसके सबध मे अभी केवल इतना ही कह सकता हू कि भगवती बाबू अब भले ही ६७

वर्ष के बूढ़े हो चुके हों, पर उनकी लेखनी दिनोदिन जवान होती जा रही है। उनकी जीवन-दृष्टि क्रमशः पैनी और सूक्ष्म गतिशील बनती जा रही है। उनके विचारों में स्पष्टता निर्भीकता और उसे प्रकट करने वाले शब्दों का ओज बढ़ रहा है। उनके कहानी कहने का ढंग भले ही एक ढर्रे पर ढल गया हो पर उनका कथ्य अब नव नित नये स्तर पर उठ रहा है। उनकी लेखनी अपने देश-समाज की सजग और सशक्त चितेरी है।

उनके 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास भी अपने समय में बड़ी धूम मचा गए। 'चित्रलेखा' दो बार फिल्माई गई। मैं समझता हू कि भारत की प्राय सभी भाषाओं में 'चित्रलेखा' का अनुवाद हुआ है। उसके बंगला और तमिल अनुवाद तो मेरे देखे हुए हैं। वर्मी और अंग्रेजी भाषाओं में भी उसके अनुवाद प्रस्तुत हो चुके हैं। परन्तु इन तीनों उपन्यासों से उनका 'सामर्थ्य और सीमा' उपन्यास मुझे आज भी अधिक पसन्द आता है। यथार्थ और स्पष्ट शैलियों का ऐसा सुन्दर समन्वय प्राय अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। उनका 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत ही नहीं हुआ बल्कि रूसी और भारत की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद भी हुआ है।

भगवती बाबू ने नाटक, फिल्म-सिनेरियो, कहानिया, हास्य-व्यग्य, रेडियो-रूपक आदि साहित्य की अनेक विधाओं को अपनाकर सफलतापूर्वक कलम चलाई है। उनके कवि रूप ने भी एक समय में बड़ी ख्याति अर्जित की थी। छायावादी युग की लघुत्रयी या वर्मात्रयी के एक 'वर्मा' हमारे भगवती बाबू भी थे, परन्तु अब वे काव्य-क्षेत्र से प्राय बाहर ही आ गए हैं। कुछ वर्ष पहले उन्होंने एक महाकाव्य लिखने का विचार किया। बाज़ार में नोट-बुक खरीद लाए, अपनी इष्टदेवी काली की वन्दना रची। वह वदना इतनी सुन्दर थी कि हम लोग अत्यन्त उत्सुक होकर उस महाकाव्य के रचे जाने की प्रतीक्षा करने लगे, पर इसी बीच में हमारे 'नेता जी' की काव्य-तरंग अचानक पीछे लौट गई और उपन्यास के लिए मूड बनने लगा। 'सबहि नचावत राम गुसाईं' की रचना कर डाली। इस उपन्यास में भगवती बाबू की व्यग्य शैली ने अपूर्व निखार पाया है। उक्त उपन्यास के बाद मैंने और भाई ज्ञानचन्द जैन ने उनसे महा-काव्य लिखने के लिए फिर प्रार्थना की, उन्होंने प्रेरित होकर कुछ पंक्तिया और लिख डालीं, परन्तु भगवती ने भगवतीचरण वर्मा को काव्य से फिर काव्य के

निकष की ओर मोड़ दिया। वे अब फिर एक नये उपन्यास की रचना में लग गए हैं।

उनकी साहित्य-साधना में उनकी जीवन-संगिनी सौ० नन्दिता जी का योगदान सराहनीय है। उनका पारिवारिक जीवन सुखद है। बेटी, दामाद, बेटे-बहुए, भाई-भतीजे सभी उनके प्रेममय व्यक्तित्व से बंधे हुए हैं। वातावरण उनके सृजनशील कलाकार को, नज़र्‌बद दूर, दिनोदिन जवान बनाता है।

[१९७०]

जिन्दादिल 'बेढब' बनारसी

मास्टर साहब के दर्शन तो पहले भी कई बार कर चुका था पर उनके निकट आने का सौभाग्य तभी मिला जबकि वे एम० एल० सी० बनकर लखनऊ पधारे। उनके जैसे मेहमाननवाज़, उदार, हाज़िरजवाब और सुलझे विचारों वाले व्यक्ति प्राय कम ही देखने में आते हैं। मास्टर साहब जब भी बनारस से लखनऊ आते तो अपने साथ मिठाइया अवश्य लाते थे। उनके आने पर 'भ्रमर' सूचना विभाग से फोन करते 'वन्दे, भगदल आए हैं।' यह सूचना पाने के बाद हम लोग शाम के समय विधायक निवास मे मास्टर साहब के कमरे पर पहुचने का समय अपने-आप ही साध लिया करते थे। भगवती बाबू, ज्ञानचद जैन, भ्रमर और मैं—प्राय यही चार जन मिलकर निष्ठापूर्वक मिठाइया का क्रिया कर्म कर डालते थे। सर्दी के मौसम मे उन्होंने कई बार स्वय मटर-चिउडा बनाकर हम लोगों को खिलाया।

बातों के तो वे रत्नाकर थे। हल्की फुल्की फुलझडियो से लेकर गभीर साहित्यिक चिन्तन तक उनकी विचारधारा सदा एक सी प्रवाहित होती थी। लाला भगवानदीन, जयशकर 'प्रसाद', अपने चाचा रामदास गौड, प्रेमचद आदि पुराने दिग्गजों के सस्मरण प्रसगवश वे खूब सुनाया करते थे। वे छायावाद के प्रारभिक पक्षधरो मे रहे थे, और प्रसाद, पन्त, निराला की कविताओ पर—अक्सर बडे मार्मिक मन्तव्य प्रकट किया करते थे। जहा तक मुझे मालूम है उन्होंने आरभ मे लाला भगवानदीन 'दीन' जी से छन्दशास्त्र और रीतिकालीन कविता का अध्ययन भी किया था। 'छायावाद' या अपने समय की नवीन काव्य-धारा के पोषक होते हुए भी वे पुरानी कविता के निंदक नही थे। गद्य साहित्य के अध्ययन मे भी उनका वैसा ही चाव था। हालकेन, टॉमस हार्डी विक्टर ह्यूगो, तोल्सतोय, दोस्तायवस्की और गोर्की आदि प्राचीन लेखकों से लेकर आधुनिक लेखक गिन्सबर्ग और जेम्स कार्वक तक की रचनाए उन्होंने पढी थी।

उनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि साहित्य के नये से नये स्वर को सुनने-समझने और उसकी खूबियों की सराहना करने मे अपने जीवन के अन्तिम दिनो तक वे कभी पुराने न पडे। यह विशेषता बहुत ही कम लोगों मे पाई जाती है। आम तौर से चालीस की उम्र के बाद लोग अपने आगे के 'नयों' को गम्भीरता-पूर्वक समझे बिना ही उनके कटु आलोचक बन जाते हैं। मास्टर साहब 'आज की 'नई कविता' पर अपने विचार प्रकट करते हुए कटु नही होते थे। उन नये कवियों को भी, जिनकी रचनाए वे हज़म नहीं कर पाते थे, कभी कटु दृष्टि मे न देखते, यदि तपते तो उनका तेज व्यग्य फूटता था अन्यथा उनपर उनकी नजर ठीक ऐसे मास्टरनुमा ही होती थी जो अपन दर्गई विद्यार्थियों को मनो-वैज्ञानिक दृष्टि मे समझने का प्रयत्न करता है।

मास्टर साहब उर्दू काव्य के भी बडे मर्मज्ञ थे। उन्होंने गालिब की कवि-ताओ का गहरा अध्ययन किया था। हाजिरजवाबी मे तो उनका कोई सानी ही न था। बहुत पहले की बात है। तब शायद वे एम० एल० सी० नहीं हुए थे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे आयोजित 'लिपि सुधार गोष्ठी' मे भाग लेकर वे इलाहाबाद से कार्यवशात् लखनऊ पधारे थे, पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के मेहमान थे। उस दिन मास्टर साहब ने लिपि सुधार गोष्ठी की ऐसी सुन्दर रिपोर्टिंग की कि हसते-हसते हमारे पट मे बल पड गए। 'ख' अक्षर का रूप परिवर्तित करने के सम्बन्ध मे होनेवाली बहस पर उनकी फब्ती मुझे अभी तक याद है। भदन्त आनद कौसल्यायन 'ख' अक्षर के 'र' वाले भाग की पूछ खीच-कर 'व' वाली पाई मे जोडने की जोरदार वकालत कर रह थे। उनका कहना था कि 'ख' अक्षर 'रव' का धोखा दता है। मास्टर साहब से चुप न रहा गया, बोले, "यदि यह लिखा हो कि 'औरत खडी है' तो क्या हमारे मित्र भदन जी यह पढेंगे कि औरत रवडी है, अथवा यदि मैं यह लिखू कि भदत जी हमारे सखा हैं तो क्या वे उस वाक्य को पढने पर सखा के बजाय हमारे 'सरवा' हो जाएगे। 'सरवा' बनारसी बोली मे साले को कहत है। इसपर राजर्षि टण्डन जी की घनी दाढी मूछें भी उनकी मुस्कराहट को न छिपा सकी थीं।

कराची हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे कविवर पण्डित मोहनलाल द्विवेदी की एक बात पर मास्टर साहब का एक हाजिरजवाब यहा तक प्रसिद्ध हुआ कि कई जगह मसखरो ने उस लतीफे से मोहनलाल जी का नाम हटाकर मेरा नाम

तक जोड दिया। बात यों हुई। बन्धुवर सोहनलाल जी अपनी नई शेरवानी और चूडीदार पाजामे की छटा कराची की सडको पर छहराकर डेरे पर लौटे। किसी मित्र ने उनकी शेरवानी की दाद दे दी। सोहनलाल भाई जोश मे आ गए, कहा कि समभते क्या हो, इसे देखकर लोगों को यह भ्रम हो गया कि जवाहरलाल नेहरू चले आ रहे है। मास्टर साहब ऐसे ही मौकों पर तो बेढब हुआ करते थे, चट से बोल पडे, "हा, कल हमको भी इनके साथ देखकर लोगों ने कहा था कि देखो जवाहरलाल और मोतीलाल चले आ रहे हैं।" पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने एक बार मास्टर साहब के महल्ले 'बडी पियरी' को लेकर मजे मे कहा कि "अरे भाई, ये बडी पियारी मे रहते हैं।" मास्टर साहब चट से बोल पडे, "हमारी पियारी का नाम तो आपको मालूम न होगा पर आपकी बडी पियारी को अब सब लोग जानते है कि जिसके बाग मे आपको शरण मिली है।" भइया साहब लखनऊ के खुरशीद बाग महल्ले मे रहते है। मास्टर साहब और भइया साहब की आपसी पुरमजाक पटाबनेठी मे खूब मजा आया करता था।

सन् '६० मे कुछ वेश्याओं से इण्टरव्यू करने के सिलसिले में मैं बनारस जाने की योजना बना चुका था। इलाहाबाद रेडियो मे एक हास्य गोष्ठी आयोजित हुई थी, मास्टर साहब वही मिल गए। मेरे इलाहाबाद से बनारस जाने की बात सुनकर वे बोले, "हमारे यहा ही ठहरना।" मास्टर साहब के आग्रह को मैं टाल न सका और मैं समझता हूं कि यदि बनारस मे उनका उचित निर्देशन मुझे न मिला होता तो वे दो-चार अच्छे इण्टरव्यू जो मैं वहा से ला सका शायद मुझे सुलभ न होते। सिद्धेश्वरी देवी के यहा वे मुझे स्वय ले गए थे। बडी मोतीबाई से मेरी मुलाकात कराने का प्रबन्ध भी उन्होंने ही किया था। सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जबकि वेश्यावृत्ति-सम्बन्धी दो-एक टेक्निकल पुस्तकों के नाम उन्होंने मुझे बतलाए। सयोग से वे पुस्तकें मेरी दृष्टि से भी गुजर चुकी थीं। मैंने उन पुस्तकों को अपने काम के लिए यह विषय उठा लेने के बाद ही पढा था, किन्तु मास्टर साहब ने तो केवल अपने अध्ययन के शौक के कारण ही उनका अध्ययन किया था।

उनके स्वर्गवास से लगभग पन्द्रह बीस रोज पहले ही मैं बनारस गया था। हिन्दी रगमच शताब्दी समारोह के सम्बन्ध मे कुछ पुराने नाटकों की जानकारी

बटोरना ही मेरी उक्त यात्रा का उद्देश्य था इसलिए इस बार उनके यहा ठहरने के बजाय मैंने 'नागरी प्रचारिणी सभा' के अतिथि-कक्ष मे ही ठहरने की योजना बनाई थी। भाई सुधाकर पाण्डेय को इसके लिए पत्र भी लिख दिया था। बनारस पहुचने पर सभा मे अपना डेरा जमाकर मैं सीधे मास्टर साहब के घर गया। यह जानता था कि वहा न ठहरने के कारण मुझे उनकी दो एक बुजुर्गोचित झिडकिया सुननी पडेंगी और यही हुआ भी। फिर भी तीन-चार दिन जब तक मैं वहा रहा मास्टर साहब स्वय सभा मे आकर मेरी खैर खबर ले जाया करते थे। उन्हे नाटकों का भी भारी शौक था। वे स्वय शौकिया रगमच के अभिनेता रह चुके थे। बनारस मे होनेवाले पुराने रगायोजनो के सम्बन्ध मे भी मुझे उनसे उपयोगी सामग्री मिली थी। इस भेंट के कुछ ही दिना बाद तीन अप्रैल, सन् '६८ के दिन सभा मे हिन्दी रगमच शताब्दी मनाने का आयोजन किया गया। इसकी योजना बनाने मे भी मास्टर साहब हमारे साथ बैठे थे। चलते समय मैंने उनके पैर छुए, कहा कि अब पहली अप्रैल को भेंट होगी। वे बोले, '*हम लोग अप्रैल-फूल की शताब्दी नही मना रह*, एक-दो दिन पहले आ जाना। इसी बहाने से दो-चार दिन गपशप करने का अवसर मिल जाएगा। और सीधे घर ही आना। सभा मे उन दिनो भब्भड रहेगा, तुम्ह असुविधा होगी।" उस समय कल्पना मे भी नही सोच पाया था कि मैं उनके अन्तिम दर्शन कर रहा हू।

यो तो मास्टर साहब अपनी पूर्ण आयु भोगकर ही गए पर उनकी मृत्यु का आघात हम सबको ऐसा ही लगा मानो वे समय से पहले ही हमारा साथ छोडकर चले गए हो, उनकी जिन्दादिली, निर्मल प्रेम व्यवहार और 'नये' को ग्रहण करने की उदारता-भरी शक्ति के कारण ही किसीको यह महसूस नही होता था कि मास्टर साहब अब पुराने हो गए है। ठलुओ के बीच मे वे परम ठलुए और विद्वानो के बीच मे वे अन्त तक गोष्ठी की शोभा बने रहे। मास्टर साहब का स्थान हास्य रस के लेखको और कवियो मे सदा अनन्य बना रहेगा।

[१९६८]

किसान कवि 'पढीस'

एक दिन—कोई पद्रह साल पहले—एक बडी-बडी मूछोवाला आदमी गाढे का कुर्ता-बडी और घुटनो तक ऊची धोती पहने हमारे यहा आया। मेरे एक पुराने दोस्त उन्हे अपने साथ लाए थे। उन्होंने बतलाया कि ये अवधी भाषा के कवि 'पढीस' हैं। पढीस ने अपनी छोटी-छोटी चमकदार आखो मे स्नेह भरकर मेरी ओर इस तरह देखा मानो खेतो मे खडी पकी फसल लहलहाकर सारे ससार को देख रही हो। उन्हे देखकर मैं शहर वाला अपनी जात भूल गया। उनकी छल-कपट से दूर, देवताओ जैसी सरल मुसकान ने मेरे मन का ओछापन हर लिया। मुझे अपना बना लिया। और उसके बाद तो 'पढीस' हमारी मित्र-मडली के सिरमौर बन गए। जैसे अक्षय वट की छाया सबको सुख और विश्राम देती है, उसी प्रकार पढीस की सरल, भावभरी बातें हमारी मानसिक थकान को हरती थी। जैसे सूरज-चद्रमा के आने-जाने का क्रम है और जैसे धरती उनकी बाट जोहती है, वैसे ही हमारे घर की बैठक नित्यप्रति 'पढीस' के आने की प्रतीक्षा करती थी। तन का दरिद्री मगर मन का कुबेर किसान कवि हमारे बीच मे बैठकर हमे सुनाता था—

दुनिया के अन्नु देवइया हम,
सुखु सपति के भरवइया हम
भूखे नगे अधमरे परे,
रकतन के आसू रोयि रहे !
हमका छाखति अटा चढिगे
उयि का जानिनि हम को आहिन।

पढीस की यह ललकार फूस मे दबी चिनगारी जैसी ही प्रचड थी। पढीस की कविता सात लाख गावो के गूगे किसानो की बोली थी। धरती की महन-

शीलता और स्वाभिमान के साथ धरती का लाल बोलता था—

हम कुछ आहिन, उयि जानयिं तउ,
उहु नातु पुरातनु मानयिं तउ।
उयि रहिहयिं तउ हमहू रहिबयि
हमते उनहुन की लाज रही—
घरु जरि कयि बटाधारु भवा—
तब का जानिनि हम को आहिन ॥

परतु गर्वीले जमीदार की आंखो पर ठकुरैती की पट्टी चढी ही रही। उसने किसान के स्वाभिमान को, उसकी सच्ची और न्याय-भरी आवाज को कभी न तो जानने की कोशिश की और न मानने की। लेकर काल अपना न्यायदड चलाता है, कवि की भविष्यवाणी खरी सिद्ध होती है। घर जलकर बटाधार होने लगता है और घमडी जमीदार अब सहज स्वाभिमानी किसान की शक्ति को पहचानने पर मजबूर हो जाता है।

'चकल्लस' का कवि पढीस खरा किसान था। किसान की दृष्टि बडी पैनी होती है। वह धरती की छाती चीरकर रत्न पैदा करना जानता है, इसलिए उसे धरती की परख भी खूब होती है। जो विलायत की हवा चली, तो बम्बई, कलकत्ता से अग्रेज़ी फैशन भारत के गाव गाव मे फैलने लगा। भोले-भाले किसान ने सोचा कि आजकल पढे लिखो का जमाना है, मेरे बच्चे भी एम० ए०, बी० ए० कर लेंगे तो आगे चलकर, कोई बडे हाकिम-हुक्काम बन जाएगे। अनेको देहातवालो ने अपना घर-जेवर अल्ला-बल्ला सब बेच खोचकर लडको को खूब पढाया-लिखाया। लडके पढ-लिखकर ऐसे सपूत निकले कि देहाती धोती मिर्जई पहने हुए अपने बाप को बाप कहकर मान देने मे भी शरम आने लगी। लडके एम० ए०, बी० ए० भले ही हो गए हो पर गुन की एक बात भी न सीखी। हा, अग्रेजी पोशाक पहनना, सिगरेट, चाय, सोडा उडाना, क्लब, सिनेमा मे प्रेम-पवाडा पढना ही वे सीख गए। अपने घर, गाव और माता-पिता को वह नीची दृष्टि से देखने लगे। इस नैतिक बुराई की ओर किसान कवि पढीस का ध्यान गया। 'चकल्लस' सग्रह मे कविता 'दरिकउनू एम० ए० पास किहिन'—उनकी बडी ही लोकप्रिय रचनाओं मे से है।

मब सट्टी मिलो असट्टिय मां लरिकउनू एम० ए० पास किहिन ।
पुरखन का पानी खुबइ मिला लरिकउनू एम० ए० पास किहिन ।

ऐसे कुल-उजागर एम० ए० पास लरिकउनू का वर्णन करते हुए पढीस आगे कहते हैं—

महतारी बिलखयि ध्याखयि का,
बिल्लायि म्यहरिया स्वाले का,
उयि परे कलवु-घर पाले मां,
लरिकउनू एम० ए० पास किहिनि ।

सुख-विलास और मौज-मजे मे पड़कर लड़कों ने अपनी भी जिन्दगी बरबाद की, और अपने मा, बाप, घरवालो को तो दर-दर का मुहताज बना दिया । उन्होने एम० ए० की डिगरी भले ही पा ली हो, ऐशन-फैशन की ऊपरी टीमटाम सब भले ही दुरुस्त कर ली हो—पर रहे कच्चे के कच्चे । इतना पढ-लिखकर उनमें योग्यता न आई, अपने ऊपर विश्वास न बढा । ऐसी विद्या किस काम की जिसे पाकर भी आदमी का स्वाभिमान न जागे, उसे अपनी बुद्धि पर भरोमा न हो । पढीस लिखते हैं—

मरजी लिखिन्नि अंग्रेजी मां,
घातयि पूंछयि चपरासिन ते,
धिरकालु 'पढ़ीस' पढ़ीसो का
लरिकउनू एम० ए० पाप किहिनि ।

गावो में अंग्रेजी विद्या का प्रचार और विलायती फैशन की हवा फैल जाने से बेमेल विवाहो की जो छीछालेदर हुई उसे लेकर कवि कहता है—

तुम ल्यहंगा लखतयि लाल परउ,
लम्वे लटकन की कउनि कहो ।
हम सुदु-बुदु ते जरि जायो,
मह छीछाल्यादरि ध्याखउ तउ !

होटल की नचुई देखि-देखि,
तुमका नचनची सवार होयि।
हम मनई देखि भरकि भाजी,
यहु छीछालेयादरि यासउ तउ।
तुम देसी देखे खारु खाउ,
हम परदेसी पर उफिलाई
यहु कस दुलहा ? यहु कसि दुलहिनि ?
सबु छीछालेयादरि यासउ तउ॥

धरती के मोह ने, बडो के स्वार्थ ने निर्बोध किसान मे भी स्वार्थ की ज्वाल भडका दी है। आज बान और मान-मर्यादा का सवाल अब ऊपरी और झूठ हो गया है। जरा-सी कोई बात हुई नही कि किसान भाई मारपीट और फौजदारी पर उतर आते हैं। फिर तो बात पुलिस, थाना और कानून-कचहरी तक बढ जाती है घर का तार-तार बेचकर किसान चाहे नगा-भिखमगा भले ही हो जाए, परन्तु कानून और अदालतबाजी की 'चडूली चुल्ल' मिटाने मे वह अपना होश-हवास, दीन-धरम, लोक मरजाद सब भूल जाता है। पढीस ने अपनी मुरहू चले कचेहरी का' नाम की कविता मे ऐसे कानूनी मुरहो का बडा ही सजीव वर्णन किया है—

कानून का पुरिया चीखिचाटि कयि,
मुरहू चले कचेहरी का।
कबलती की क, ख, ग, घ पढि,
आए आपु कचहरी का।

अपने किसान भाइयो की इस अदालती महामारी से किसान कवि का रोम-रोम दुखी होता है। कविता के अत मे पढीस काली माई से प्रार्थना करते हैं कि यह दुर्गुण समाज से दूर हो जाए तो कैसा अच्छा हो। सामाजिक बुराइयो पर पढीस के इस अद्वितीय कविता सग्रह मे एक से एक सुन्दर रचनाएँ हैं। 'सोनामाली', 'तिरफला', 'सिष्टाचार', 'भलेमानस', 'रहीसो ठाठु', 'हम औ तुम' 'हम कनउजिया बाभन आहिन' आदि कविताओ म किसान कवि ने निश्छल व्यग्य-

वाए बरसाए हैं। 'किहानी' शीर्षक कविता में कवि ने अंग्रेजों के सुख-वैभव को सामने रखकर दीन-हीन भारतीय किसान की विपताओं का जो व्यंग्य और परिहासपूर्ण, साथ ही करुण चित्र खींचा है वह हिंदी साहित्य में अनुपम, अद्वितीय है। नदी की बाढ किसान के खेत बहा ले जाती है। खेत किसान का प्राण है। उसके ऊपर उसकी सारी आशाएं हैं। खेत उसके घरवालों की रक्षा का एकमात्र आधार है। और नियति जब किसान से वह भी छीन लेती है तो बेचारा निरुपाय होकर राम को याद करता है। भारतीय किसान और राम का अटूट नाता है। और उसी नेह-नाते की डोर में बंधकर भक्त अपने भगवान से, अपनी मडय्या के रखवारे राम से, प्रार्थना करता है—

फूलि फरी खरबूजा बारी सइति लिहिस सइलाबु;
का मुहुं लयिकयि घर का जाबयि, कहिते का बतलाबु,
मडय्या के रखवार हमार राम!

किसान कवि पढ़ीस उच्चकोटि के कवि थे। किसी भी भाषा का साहित्य ऐसे कवि को पाकर धन्य हो जाता है। प्रकृति का, गांव का, गांव के जीवन का, मनुष्य-स्वभाव का जितना सुन्दर, सजीव और मार्मिक वर्णन पढ़ीस ने अपनी अवधी भाषा की कविताओं में किया है, उतना काव्य के क्षेत्र में कम ही लोगों ने किया है। 'घसियारिनि', 'सुनुहुनी स्यामा', 'मनई', 'लरिका', 'बिटिया', 'म्यहारू' आदि एक से एक बढ़कर रचनाएं हैं। घसियारिनि कविता में घास निराती हुई नवयुवती का एक चित्र देखिए—

कस धूरि धुरेटे बार स्वनहुले
चंद बदन पर—
उड़ि-उड़ि पुरवाई ब्वाका
बादर अस मडरायि रहे।
का चदा मामा घेरि सप्वलवा
अयिसी वयिसी!
छुवा-छुअउवरि खेलि रहे!
अठिलायि रहे ब्यल्हरायि रहे!

घसियारिनि घास निराथि रही !

पढ़ीस जनता के कवि थे, पढ़ीस किसानों के अपने कवि थे। पढ़ीस अवधी भाषा—हिंदी साहित्य के अभिमान थे। और जो लोग उन्हें निकट से जानने का सौभाग्य प्राप्त कर सके, वे यह भी जानते हैं कि किसान कवि पढ़ीस कवि से भी बढ़कर महान मानव थे। उनके असामयिक स्वर्गवास पर कविवर नरेन्द्र शर्मा ने लिखा था—

वह हिन्दी का लेखक था,
खून तपा कर लिखता था !
ऐसा अपना साथी था जो चला गया,
एक हमारा साथी था जो नहीं रहा !

[१६४६]

:o:

तीस बरस का साथी : रामविलास शर्मा

'प्रिय भैयो

तुम्हारे और केदार के सब पत्र पढ़ गया हूं। किसी अंग्रेजी पढ़े लिख से पूछना कि इंगलैण्ड के दो (तीन तो बहुत है) साहित्यकारों का नाम ले दोस्ती—सचमुच की दोस्ती, महज खत किताबत वाली नहीं, और साहित्य की दोस्ती, साहित्यकार और उसके भक्तों की नहीं—उसके साहित्यिक के आरंभ से लेकर तीस साल तक एक बार भी ज़नमर्जैजार और मुंह-फु के बिना बनी ही न रही हो, बरन् गढ़ियाई हो। यहां भी अंग्रेजी फोक्स हुई

डाक्टर के पुराने पत्रों को सजोकर बैठा हूं। सन् '४० से लेकर '६४ के पत्र लिफाफे पोस्टकार्ड और 'अन्तर्देशीय पत्र' के कागजों पर लिख चिट्ठियों की नुमायश लगी है, भांति-भांति के सिरनामे छपे कागज—बाल सा संघ, लखनऊ, कैनिंग कालेज एथेलेटिक असोसिएशन, लखनऊ, हिन्दी सा सभा, लखनऊ, रामविलास शर्मा, एम० ए०, पी एच० डी०, डिपार्टमेण्ट इंगलिश, लखनऊ युनिवर्सिटी (अंग्रेजी में छपा), 'उच्छृंखल मन्थली और म 'समाचार' आगरा के कागजों पर उनके विभिन्न निवास स्थानों के पते हैं। कैलाशचन्द्र दे लेन, मकबूलगंज और सुन्दर बाग, लखनऊ के पते हैं बाकी के ठिकाने हैं—बैंक हाउस, सिविल लाइन्स, शिवसदन, स्वदेशी बीमा महताब भवन, वज़ीरपुरा, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा, आर० बी० एम० ए०, पी-एच० डी० (लख), हेड आफ दि डिपार्टमेण्ट आफ इंगलिश, आर० कालेज, आगरा, गोकुलपुरा मदीया कटरा, अशोक नगर और राजामंडी। यहां आकर पता स्थायी होता है। यह रामविलास की अपनी कमाई की बनवाई हुई पूरा आलीशान बागीचेदार कोठी है जिसके ऊपरी की बुर्ज को देखकर मैंने उस मकान का नाम 'दुपल्ली टोपी' रख दिया है, हा रामविलास ने उसे स्वीकार नहीं किया।

प्रतिभाशाली नवयुवक उनके यहां बराबर आते रहते थे। मैं उन दिनों उन गोष्ठियों में बहुत कम शामिल हो सका और जब कभी हुआ भी तो बानक सदा ऐसे बने कि रामविलास मुझे वहां न मिल सके। एकाध बार यह भी सुना कि अभी अभी बाहर गए हैं। रामविलास को देखने की उत्कण्ठा मेरे मन में सवार हो गई। फरवरी '३५ में मेरे पिता का स्वर्गवास हुआ। निराला जी उन दिनों जल्दी जल्दी मेरे घर का चक्कर लगा जाते थे। एक दिन होली के बाद मैं सबेरे ही उनके घर चला गया। तब वे नारियल वाली गली में रहते थे और शायद 'तुलसीदास' लिख रहे थे या लिखने की तैयारी में थे। रामविलास उस दिन निराला जी के घर पर ही मिले। निराला जी ने बड़े तपाक से परिचय कराया। रामविलास रिजर्व टाइप के आदमी लगे। जोश में आने पर निराला जी में दिखावे की भावना भी खूब आती थी। रामविलास के अंग्रेजी साहित्य के ज्ञान से वे चित्त हो चुके थे और अपने काव्य पर उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रशंसायुक्त आलोचना से गद्‌गद। मेरे सामने उन्होंने रामविलास से पंजा लड़ाया और शायद शेक्सपियर या किसी अन्य अंग्रेजी कवि को लेकर उनसे कुछ चोंचें भी लड़ाईं। हम लोग घर से उठकर हीवेट रोड, पैरागॉन रेस्ट्रां में चाय पीने के लिए आए। वहां देर तक बैठे निराला जी से खुलकर हंसते-बोलते हुए हम दोनों बीच-बीच में बाअदब कुछ आपस में भी बोल-बतिया लिया करते थे। मेरे मिजाज में तकल्लुफ और उनके मिजाज में संकोच, लिहाजा दोस्ती की गाड़ी रुक रुककर आगे बढ़ती रही। निराला जी के साथ रामविलास अब कभी-कभी मेरे घर पर भी आने लगे। मेरे बचपन के साथियों में ज्ञानचन्द जैन, राजकिशोर श्रीवास्तव और स्व० गोविन्दबिहारी खरे इण्टेलेक्चुअल और साहित्यिक अभिरुचि के लोग थे। कभी-कभी मुझमें, रामविलास और गोविन्द में शब्दों को लेकर मजेदार खोद विनोद होने लगती थी। मेरे और रामविलास के बीच यह कड़ी शुरू से ही बड़ी मजबूत रही है। आगे चलकर यही शब्द-विलास रामविलास को भाषाविज्ञानी बना गया।

हमारी घनिष्ठता की दूसरी कड़ी में अंग्रेजी और योरप की दूसरी भाषाओं के साहित्यिकों के व्यक्तित्व और कृतित्व की चर्चा भी बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। सच पूछा जाए तो मेरे और रामविलास के बीच घनिष्ठता की यह सबसे मजबूत कड़ी थी। रामविलास और स्व० गोविन्दबिहारी खरे—अपने इन दो मित्रों की कृपा से मेरी पश्चिमी साहित्य-सम्बन्धी जानकारी बहुत बढ़ी।

बैसवारी अवधी में उनकी कविताओं का एक संग्रह 'चकल्लस' नाम से उन दिनों ताज़ा-ताज़ा प्रकाशित हुआ था।

रामविलास ने उसी नाम को आगे बढ़ाया। "भई, मसखरा नाम है तो अच्छा मगर 'चकल्लस' में जो बात है वह उसमें नहीं आती।" ७ जनवरी को गोविन्द ने बतलाया कि न्यूमेरालॉजी के हिसाब से मसखरा नाम ठीक नहीं। 'चकल्लस' लाभदायक है, यही रक्खा जाए। वसन्त पंचमी के दिन उसे प्रकाशित कर देने की योजना बनी। बड़े जोश के साथ हम लोग काम में लगे। स्व० गोविन्दविहारी खरे, रामविलास शर्मा और स्व० बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' ने मुझे और नरोत्तम नागर को जैसा हार्दिक सहयोग दिया वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। गोविन्द ने बी० काम० पास किया था और उन दिनों बेकाम भी थे। उन्होंने दफ्तर और हिसाब किताब सम्भाला। नरोत्तम ने इलाहाबाद जाकर कलाकार बागची से पत्र के बड़े ही सुन्दर डिज़ाइन्स बनवाए। मैंने प्रेस, कागज़ आदि की दौड़-धूप में मन लगाया और हमारा कोतवाल यानी रामविलास मैटर सजोने में लग गया। यों तो पत्र के सम्पादक मैं और नरोत्तम थे, पर इलाहाबाद जाते समय मैटर को तरतीब देने का भार नरोत्तम रामविलास को ही दे गए। वो जोश के दिन अपनी याद से इस समय भी मेरे मन को वही पुरानी फुरफुरी दे रहे हैं। यह कुछ नौजवानों का जोशीला सामूहिक प्रयत्न था। पैसा भले ही मेरा लगा हो पर इनमें से एक भी ऐसा न था जो पत्र को अपनी मिल्कियत न समझता हो। पैसे की अहता महत्त्वपूर्ण होकर भी उद्देश्य की निष्ठा के आगे बहुत छोटी हो जाती है। पैसा महज़ एक मशीन है जिससे हम तरह-तरह के उपयोगी कामों का ताना-बाना बुनते हैं। 'चकल्लस' प्रकाशन के दौर में अपने इन सब बन्धुओं की कृपा से मेरी सामाजिक दृष्टि निखरी। मेरे वातावरण में व्याप्त महाजनी और सामन्ती सभ्यता के कुसंस्कार 'चकल्लस' प्रकाशन के दौर में खूब-खूबी से दूर हुए और उसके लिए मैं अपने इन बन्धुओं का ऋणभार कभी अपनी चेतना से उतार नहीं सकता। सच पूछा जाए तो विलास 'चकल्लस' प्रकाशन के डेढ़ वर्षों में ही मेरे अत्यधिक निकट आए। इस शख्स में अपनी कुछ ऐसी खूबियां हैं कि मन से उतारे नहीं उतरती। निराला जी के समान नशेबाज़ गुरू का साथ और भाई फिर भी साफ अछूते बच गए। हम लोग, जैसा कि आमतौर पर चार नौजवानों के मिल बैठने पर होता

है, इश्क और हुस्न के रस-बहाव में अपने-आप ही बहने-बहलने लगते, रामविलास शुरू से ही प्रेमचर्चा शून्य रहे। वे जहा डट गए वहा अगद के पाव की तरह थिर हो गए फिर सारी दुनिया आ जाए मगर उनको अपनी जगह से हटा नहीं सकती। ऐसे व्यक्ति टूट भले ही जाए पर झुक नही सकते। मैं रामविलास के इसी व्यक्तित्व से बधा हू। रामविलास के इस बैसवारी अहम् को आम तौर पर भ्रमित दृष्टियों से देखा गया है। लोगो मे यह भ्रम फैल गया है कि रामविलास खरे और ईमानदार तो हैं पर अकडू बहुत हैं, किसीमे मिलकर नही चलना चाहते। यह बात गलत है। रामविलास के समान विनम्र और विनयशील व्यक्ति मैंने कम देखे। लेकिन उनकी विनम्रता और विनय उनकी मान्यताओ के आडे कभी नही आती। हम शहरी लोग तकल्लुफ मे अपने दोस्तो से भी एक जगह मन की शिष्टाचार-भरी चोरी रखते है या उनके दबाव मे आकर अपनी मान्यताओं को मन मे ही दबा जाते हैं, रामविलास मे यह शहरी दुर्गुण नही हैं। वह खास तौर पर उन बुजुर्गों, मित्रों और छोटों की गलत बात पर राजी ही नहीं हो सकते जिनके प्रति उनकी श्रद्धा, स्नेह और ममत्व है। हम शहरी लोग ऐसे मौको पर बुरा मान जाते हैं, खास तौर पर उनका विरोध हमे और भी बुरा लगता है जो हमारे निकट होते हैं। रामविलास सौम्य, गभीर, प्रतिभावान और विचारक होने के कारण शहरी समाज के ऊचे से ऊचे लोगों की सगत मे बैठने-उठने के अवसर सहज ही पाते रहे। लोग उनके प्रति आकृष्ट भी होते रहे और उन्हे अपना स्नेह भी दिया। लेकिन ऐसो मे ही अनेक व्यक्तियो मे उनका यह भ्रम नाता आरम्भ हुआ। इस भ्रम के लिए रामविलास अधिकतर दोषी नही माने जा सकते। हा, उनमे एक प्रबल दोष है, जब कोई उनसे बेजा तौर पर नाराज होता है तो वे ठेठ देहाती की तरह उसको 'टि-ली-ली-ली-भों' वाली मुद्रा मे चिढाने लगते है। जब वो चिढता है तो ये और तेज होते हैं। रामविलास की तीखे व्यग्य भरी खिल खिलवाली हसी ने बहुत-से कलेजो पर तलवार से वार किए। रामविलास का क्रोध भीतरा है पर घुन्ना नहीं। उनके क्रोध का बहि-प्रदर्शन आम तौर पर उनकी जहरीली हसी और व्यग्य वचनों के रूप मे ही होता है। निराला जी क्रोध की तेज बाढ मे विवश होकर बहते थे, अपने ढग मे मेरी भी ऐसी ही हालत होती है पर रामविलास क्रोध के बहाव मे बहते नही बल्कि तैरते हैं। बहने वाला उनके इसी सयम से आतंकित

होता है। रामविलास जब चिढ़ते हैं तब उनका तर्कजनित व्यंग्य और भी सधता है।

मुझे ठीक याद है, वसन्त पंचमी के दिन 'चकल्लस' का पहला अंक निकला था। 'यह कइसि चकल्लस आई' शीर्षक से पहली कविता पढ़ीस जी की थी। बाकी सारा मैटर नरोत्तम, रामविलास और मैंने मिलकर लिखा। प्रायः हर अंक का अधिकांश मैटर हम तीनों ही पूरा करते थे। कई उपनाम रख लिए थे। और खूब मज़े ले-लेकर लिखते थे। वे भी क्या मौज के दिन थे। रामविलास उन दिनों शायद एम० ए० के अन्तिम वर्ष में थे। युनिवर्सिटी से लौटकर शाम को नित्य प्रति मेरे यहां आते। नाश्ता, चाय, हुक्का, पान चलने लगता। गप्पें लड़तीं, दूसरे अंक के मैटर की योजनाएं बनतीं और कभी-कभी तो हम लोग एक ही तखत पर साथ बैठकर लिखा भी करते थे।

हिन्दी के प्रति रामविलास की निष्ठा और भक्ति शुरू से ही अटल रही है। कोई हिन्दी के खिलाफ कुछ कह भर जाए फिर भला वह विलास के व्यंग्य बाणों से बचकर जा ही कहां सकता है। स्वयं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ तक 'चकल्लस' के 'कुकडू-कू' स्तम्भ में रामविलास से बच नहीं पाए। हिन्दी साहित्य की उन्नति के सम्बन्ध में रामविलास की कल्पनाएं और जोश अपार था। रूस की पंचवर्षीय योजना पद्धति से स्फूर्ति लेकर विलास उन दिनों में भी अच्छा हिन्दी साहित्य लिखने की योजना बनाया करते थे : 'तुम ये लिखोगे, कक्कू (पढ़ीस) वो लिखेंगे, मैं इतने लेख तैयार करूंगा, नरोत्तम ये करेंगे। उच्चन (स्व० बुद्धिभद्र दीक्षित) बच्चों का साहित्य लिखेगा। अमृत, तुम एक प्रेस भी ले लो, 'चकल्लस' के साथ ही साथ अपना प्रकाशन भी होना चाहिए।" बस इसी तरह की कामकाजी योजनाएं बना करतीं। मैंने प्रेस के लिए आर्डर भी दे दिया था। हर रविवार को गोष्ठी होती—अक्सर मेरे यहां, कभी-कभी पढ़ीस और रामविलास के यहां भी। उसके लिए खास तौर पर हमें लिखना ही पड़ता था नहीं तो विलास हमारी जान खा जाते थे। मैंने उनका एक नाम कोतवाल भी रख छोड़ा था। विलास को हम लोग डॉक्टर के नाम से भी पुकारा करते थे। बी० ए० में पढ़ते समय ही निराला जी ने रामविलास को यह उपाधि दे दी थी। वह उपाधि उपाधि न होकर रामविलास के उपनाम जैसी ही बन गई थी। रामविलास के छोटे भाइयों के

उपनाम जैसे चौबे, मुंशी, अवस्थी आदि थे वैसे ही विलास का एक नाम डॉक्टर भी हो गया। हालांकि जब रामविलास डॉक्टर हुए तो मैं ऐसा मगन हुआ मानो मैं ही डॉक्टर हो गया था। विलास ने ये डॉक्टरी सन् '४० मे अर्जित की थी। मैं तब तक फिल्मी लेखक बनकर बम्बई में बस चुका था। बम्बई में एक शाम लखनऊ रेडियो का प्रोग्राम सुनते हुए मैंने एकाएक एनाउन्सर द्वारा डॉ० रामविलास शर्मा नाम की घोषणा सुनी। उसके बाद आवाज आई तो अपने डॉक्टर की। मुझे बडा क्रोध आया कि विलास ने अपनी डॉक्टरी पाने की खबर मुझे क्यो नही दी। उसी क्रोध मे मैंने ६-७-'४० को विलास को पत्र लिखा। उसका उत्तर देते हुए १३-७ को वे लिखते हैं, "और रहे तुम वही अमृत, कोई दिल्ली मे भाड झोंकता है तो कोई बम्बई मे। यह तो निश्चित ही था कि डॉक्टरेट मिलते ही मैं तुम्हें पत्र लिखता। और बिना पत्र के जब मेरे नाम के साथ तुमने डॉक्टर देखा तभी तुम्हे अपने कान खडे करने चाहिए थे! यह डॉक्टरेट मुझे रेडियो वालों से मिली है।"

इसी जुलाई मास मे बाल साहित्य सघ, ११२ मकबूलगज के लेटरहेड पर डॉक्टर का एक पत्र मिला—

"प्रिय अमृत!

हमारा Thesis approved हो गया है। इस convocation मे डिग्री मिल जाएगी।

तुम्हारी बात सच है। अब लखनऊ आओ तो मिठाई खाई जाए।"

रामविलास की डॉक्टरी का उत्सव मैंने बम्बई मे अपने ढग मे खूब मनाया। बम्बई मे उस समय दो ही ऐसे साथी थे जिनको अपनी इस खुशी मे शरीक कर सकता था। एक श्री किशोर साहू और दूसरे श्री महेश कौल। वो शाम कभी भूलेगी नहीं। मैं स्टूडियो से लौटते हुए दादर बार मे उत्सव की विशेष वस्तु लेकर लौटा। महेश जी मेरे साथ ही आए थे। इन्तजार साहू साहब का था। चूंकि उन दिनों मैं और महेश दोनों ही बम्बई मे अनाथ थे इसलिए अक्सर किशोर के घर पर ही हमारा भोजन होता था। किशोर के माता-पिता दोनों ही उन दिनों बम्बई मे थे इसलिए बोतलामृत का पान उनके घर पर न हो सकता था। तय यह हुआ था कि उत्सव महेश के घर पर मनाया जाएगा और खाना किशोर के यहा से आएगा। लेकिन किशोर साहू भूल गए। नौ बजे रात तक

हम लोग उनकी प्रतीक्षा में बैठे-बैठे सूखते रहे। किशोर के घर जा नहीं सकते थे क्योंकि वहां जाने पर खाना पड़ता और किशोर के बिना उनके घर से खाना मंगवाना भी बुरा मालूम पड़ रहा था। नौ-सवा नौ बजे हारकर नीचे के ईरानी होटल वाले से स्लाइस मक्खन, मटर, महेश के लिए आमलेट आदि मंगवाया। पीने की लज्जत तो रही पर खाना उम्दा न मिला। मैंने उस दिन चिट्ठी पाने के बाद महेश से कहा था, "डॉक्टरी तो रामविलास को मिली है पर उसका नशा मुझपर चढ़ा है।" रात में महेश बोले, "दोस्त के डॉक्टर होने का नशा तो तुम्हें बखूबी चढ़ा मगर उस्ताद, नशे से तुम्हारा पेट नहीं भर सकता।"

बात अपने ढंग में सही थी लेकिन यह भी सच है कि रामविलास की डॉक्टरी का नशा मेरे मन में आज तक नहीं उतरा। एक तो उन दिनों डाक्टर शब्द की कीमत बहुत थी। मुर्गी के अण्डे जैसे पैदा होने वाले आज के-से डॉक्टर उस समय न थे। मेरे मित्रों में रामविलास पहले डॉक्टर थे। दूसरे यह कि डिग्रियां और डॉक्टरेट उस समय मेरे मन की सबसे बड़ी कमज़ोरी भी थी। मेरे पिता की बड़ी इच्छा थी कि मैं ऊंची ऊंची डिग्रियां पास करूं, वह न कर पाया, उसकी कचोट आज तक मेरे मन में है और शायद जीवन-भर रहेगी। इसके साथ ही साथ यह भी सच है कि रामविलास की डॉक्टरी मेरे उस ज़ख्म पर मरहम-सा काम करती है। कभी कोई शास्त्रीय पद्धति की पुस्तक लिखने का विचार मन में आता है तो सोचता हूं कि विलास से कहूंगा। मन की झिझक के बावजूद अपने जी की एक और बचकानी बात भी लिख दूं—रामविलास लिखित 'सत्तावन की राज्य क्रांति' तथा 'भाषा और समाज' पुस्तकें मेरी अहंता को ऐसा सन्तोष देती हैं मानो वे स्वयं मेरी ही लिखी हुई हों।

भाषा विज्ञान और भारतीय संस्कृति तथा इतिहास—ये विषय ऐसे रहे हैं जिनपर हमने घण्टों बहसें की हैं।

बम्बई की दुनिया लखनऊ से न्यारी थी। जो काम वहां कर रहा था वह कृति साहित्य से सम्बन्ध रखते हुए भी साहित्य न था। किशोर, महेश और किशोर के पिता श्री कन्हैयालाल जी साहू को छोड़कर बम्बई की फिल्मी दुनिया में एक भी आदमी ऐसा न था जिससे बातें करके मेरा जी जुड़ता। लखनऊ के साहित्यिक वातावरण की याद उसी तरह आती थी जैसे नई ब्या-

ह्ली को समुराल मे मैके की सखिया याद आती हैं। मेरा खयाल है, उन दिनो जितने पत्र मैने लिखे हैं उतने शायद उससे पहले या बाद मे नही लिखे। यह पत्र भी विशेषतया चार साथियो को लिखे—ज्ञानचन्द जैन, रामविलास शर्मा, गोविन्दविहारी खरे और राजकिशोर श्रीवास्तव को। पत्र लिखकर अथवा उनसे अपने पत्रो के उत्तर पाकर मेरे बबइया जीवन का श्रमताप हर जाता था। ज्ञानचन्द के पत्रो मे इलाहाबाद के साहित्यिक जीवन के समाचार मिलते, राजू के पत्रो से हसी और गुदगुदी तथा गोविन्द और रामविलास के पत्र से मुझे साहित्यिक लेखन-पठन की प्रेरणा मिलती रहती थी। रामविलास ने अपनी 'कोतवाली' का प्रसार बबई तक कर रखा था। सन् '४० के १६ अगस्त को कैलाशचन्द्र दे लेन, सुन्दर बाग, लखनऊ, मे लिखा गया एक पत्र रामविलास की मानसिक गतिविधियो का अच्छा परिचय देता है

"तुम्हारा पत्र कॉलेज से आने पर मिला। इतना लिखकर ललित (ज्येष्ठ पुत्र—अ०) को पढाने-पढाते मैं सो गया। आखो मे अब भी नीद भरी है। एकाकी नाटक के लिए 'गोरखधन्धा' (मेरी एक कहानी—अ०) को यदि वार्ता के रूप मे लिख डालो तो कैसा हो। सवेरे उठते ही खोंचेवाले की आवाज और उसके बाद वही पारिवारिक चर्चा। घटनाओ का तार टूटने न पाए, एक ही दिन मे सब बातें खत्म हो जाए। 'नवाब साहब बबई मे' (मेरी नवाबी मसनद के नायक) भी अच्छा विषय रहेगा परन्तु पता नही यह उन्हें सहन होगा या नही।

" एक स्कीम के बारे मे तुम्हे लिख रहा हू। अभी सोने मे उसे स्वप्न मे नही देखा। कई महीनो से वह मन मे है। एक त्रैमासिक पत्रिका निकाली जाए। उसमे साहित्य और विज्ञान पर लेख रहगे। अब इटरमीडिएट तक हिन्दी शिक्षा का माध्यम बन रही है। शायद आगे बी० ए० मे भी बने। परन्तु उचित पुस्तको का अभाव है। ये पुस्तकें एक दिन मे किसीसे कहकर न लिखाई जा सकेंगी। इसके लिए एक ऐसी पत्रिका चाहिए जहा हम नये लेखक जमाकर उनकी लेखन-शक्ति और उनके सेवा-भाव की जाच कर सकें। हमें अपने और बनारस तथा इलाहाबाद के विश्वविद्यालयो के शिक्षको से सहयोग प्राप्त होगा। अपने यहा के तो बहुत-से लोगो से मैंने वचन भी ले लिया है। उर्दू मे उस्मानिया विश्वविद्यालय से एक ऐसी पत्रिका निकलती है परन्तु हमारे यहा के हिन्दी-प्रेमी अभी मेरी तरह सो रहे है। कोई आश्चर्य न होगा यदि हिन्दुस्तानी के नाम पर Inter-

mediate और B A मे शिक्षा का माध्यम उर्दू बना दी जाए। उर्दू वाले कहेगे, हमारे यहा पहले से साइस का अदव मौजूद है। ससकीरत के नये शब्द गढने की क्या जरूरत है ?

"विज्ञान पर हम ऐसे लेख अपनी पत्रिका म देंगे जो साधारण शिक्षित पाठकों को भी रुचिकर हो। सामयिक वैज्ञानिक विषयो पर भी, जैस सर रमन द्वारा आविष्कृत किरणा पर। सर सुलेमान ने जो आइस्टाइन की 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' की आलोचना की है, उसपर हम आलोचनात्मक और रचनात्मक लेख छापेंगे। दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि विषयो पर भी लेख रहेंगे। नई पुस्तको और लेखो के सारभाग भी सक्षिप्त रूप मे होगे। हिन्दी की प्रगति की नाप जोख भी होगी, इतना काम इस दिशा मे इस कोटि का हुआ, किधर ज्यादा काम करना है, आदि। साहित्यिको के पत्र, कविताए, पुराने साहित्यिको के सस्मरण, वर्णनात्मक निबन्ध, आदि पत्रिका की विशेषताए होगी।

"एक सख्या मे १००-१२५ पृष्ठ होगे। मूल्य १) लगभग, एक सख्या निकालने मे करीब ४००) खर्च होंगे। यदि ४०० ग्राहक हों तो काम चल सकता है। मैं जानता हू कि केवल ग्राहक बनाकर इस पत्रिका को निकालना दुष्कर है। इसके लिए हिन्दी प्रेमी धनी सज्जनो की जरूरत है। मैं चाहता हू कोई सज्जन कम से कम दो अका के लिए कागज और छपाई का प्रबन्ध कर दे तो काम निकल जाएगा। तुम्हारे मित्र श्री द्वारकादास डागा हिन्दी-प्रेमी हैं, उनके सामने यह मसौदा रखना। क्या वह किसी प्रकार की सहायता कर सकेंगे ? तुम समझ गए होगे, जैस लोगो को पत्रिका निकालने की धुन होती है, वह मुझे नही है। मैंने कई महीनो तक इसपर सोचा भी है। उत्तर शीघ्र देना स्वास्थ्य का ध्यान रखना।—

—तु० रामविलास"

ऐसी स्कीमें रामविलास की कल्पना को सदा से बाधती रही हैं। मुझे याद है, मैंने रामविलास की सलाह पर अपने धनाधीश मित्र श्री डागा से इस सम्बन्ध में बात चलाई थी। पहले तो वे राजी हुए, कहा कि डाक्टर शर्मा को यहा बुला लीजिए, बात हो जाए, परन्तु दूसरे ही दिन उन्होंने मुझसे कहा, 'पडित जी, हमारी राय है कि अभी साल-छ महीने और ठहर जाइए। लोगों की सलाह है कि पहले फिल्म-कपनी जम जाए, फिर ऐस कामों मे हाथ डालना उचित होगा।"

मुझे ऐसा लगा कि रामविलास के आगे मेरी नाक नीची हुई जाती है। यह भी सोचता था कि पत्रिका निकलने पर बम्बई के अपने जीवन को मैं सफलता पूर्वक निभा ले जाऊगा। दरअस्ल कोरा फिल्मी जीवन मुझे काटता था। मैंने उलट फेर कर बहुविधि डागा जी को अपनी बात मानने के लिए राजी करना चाहा पर किसी 'दुश्मन' ने भाजी मार दी। मुझे यह तो याद नही कि मैंने रामविलास को इस पत्र का उत्तर कब दिया पर इतना कह सकता हू कि अपनी असफलता पर दुखी अवश्य हुआ था।

हिन्दी के सम्बन्ध मे यह लगन रामविलास के मन मे मैंने सदा से 'जागती ज्योति-सी' देखी है। यहा यह स्पष्ट कर देना बहुत ही जरूरी है कि किसी भी भाषा के प्रति विलास के मन मे अनादर या अवज्ञा की भावना कभी एक क्षण के लिए भी नही आई। विलास के प्रगतिशील विद्वान मित्रो ने कभी-कभी उन्हे सकीर्णता वादी प्रच्छन्न हिन्दू भी माना है। एक सज्जन ने एक बार रामविलास के सम्बन्ध मे बातें चलने पर बडे घुमाव-फिराव के साथ मुझसे कहा, "भइ, तुम्हारे दोस्त के आलिम होने मे तो दो रायें हो ही नही सकती मगर वे तअस्सुब जरूर रखते है।" मैं विलास को तअस्सुबी नही मानता। उर्दू के प्रति उनके मन मे दुर्भावना तनिक भी नही। हा, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे उर्दू के हिमायती आन्दोलनकारियो की हिन्दी के प्रति हिकारत-भरी नजर से चिढते अवश्य रहे। और रामविलास जब चिढते हैं तो चिढानेवाले की नाक चिन्ची किए बिना उसे छोडते नही। हिन्दी के प्रति उर्दू के हिमायतियों, काले साहबों और दूसरी भाषाओ के *'स्नाब स्कालरों' की बगैर पढी-समझी अन्यायपूर्ण* आलोचनाओ से वे तडप उठते हैं। सेर के जवाब मे यदि वे सवा सेर फेंकते तो शायद इतने बदनाम कभी न होते लेकिन सेर पर ढैया, पसेरी या दससेरा बटखरा खीच मारना रामविलास का स्वभाव है। बैसवारे के लोग बडे अक्खड और जबर्दस्त लट्ठमार होते हैं—विलास हैं तो आखिर ठेठ बैसवारे के ही।

सन् १९३८-'३९ के दिनो मे ऑल इडिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति से मोर्चा लेने के लिए रायबहादुर प० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लखनऊ से आकाशवाणी नामक एक बुलेटिन प्रकाशित करना प्रारभ किया था। रामविलास उसके लिए नित्यप्रति अपनी ड्यूटी बाधकर रेडियो सुनते और बुलेटिन के लिए मसाला बटोरते थे। इलाहाबाद के मासिक पत्र 'तरुण' मे उनका और श्री रघुपतिसहाय

mediate और B A में शिक्षा का माध्यम उर्दू बना दी जाए। उर्दू वाले कहेंगे, हमारे यहा पहले से साइस का अदब मौजूद है। ससकीरत के नये शब्द गढने की क्या जरूरत है?

"विज्ञान पर हम ऐसे लेख अपनी पत्रिका में देंगे जो साधारण शिक्षित पाठकों को भी रुचिकर हो। सामयिक वैज्ञानिक विषयों पर भी, जैसे सर रमन द्वारा आविष्कृत किरणों पर। सर सुलेमान ने जो आइन्स्टाइन की 'थ्योरी आफ रिलेटिविटी' की आलोचना की है, उसपर हम आलोचनात्मक और रचनात्मक लेख छापेंगे। दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर भी लेख रहेंगे। नई पुस्तकों और लेखों के सारभाग भी सक्षिप्त रूप में होंगे। हिन्दी की प्रगति की नाप-जोख भी होगी, इतना काम इस दिशा में इस कोटि का हुआ, किधर ज्यादा काम करना है, आदि। साहित्यिकों के पत्र, कविताए, पुराने साहित्यिकों के सस्मरण, वर्णनात्मक निबन्ध, आदि पत्रिका की विशेषताए होंगी।

"एक सख्या मे १००-१२५ पृष्ठ होंगे। मूल्य १) लगभग, एक सख्या निकालने मे करीब ४००) खर्च होंगे। यदि ४०० ग्राहक हों तो काम चल सकता है। मैं जानता हू कि केवल ग्राहक बनाकर इस पत्रिका को निकालना दुष्कर है। इसके लिए हिन्दी प्रेमी धनी सज्जनों की जरूरत है। मैं चाहता हू कोई सज्जन कम से कम दो अकों के लिए कागज और छपाई का प्रबन्ध कर दें तो काम निकल जाएगा। तुम्हारे मित्र श्री द्वारकादास डागा हिन्दी-प्रेमी हैं, उनके सामने यह मसौदा रखना। क्या वह किसी प्रकार की सहायता कर सकेंगे? तुम समझ गए होगे, जैसे लोगों को पत्रिका निकालने की धुन होती है, वह मुझे नहीं है। मैंने कई महीनों तक इसपर सोचा भी है। उत्तर शीघ्र देना स्वास्थ्य का ध्यान रखना।—

—तु० रामविलास"

ऐसी स्कीमें रामविलास की कल्पना को सदा से बाधती रही हैं। मुझे याद है, मैंने रामविलास की सलाह पर अपने धनाधीश मित्र श्री डागा से इस सम्बन्ध मे बात चलाई थी। पहले तो वे राजी हुए, कहा कि डाक्टर शर्मा को यहा बुला लीजिए, बात हो जाए, परन्तु दूसरे ही दिन उन्होंने मुझसे कहा, "पडित जी, हमारी राय है कि अभी साल-छ महीने और ठहर जाइए। लोगों की सलाह है कि पहले फिल्म-कपनी जम जाए, फिर ऐसे कामों मे हाथ डालना उचित होगा।"

मुझे ऐसा लगा कि रामविलास के आगे मेरी नाक नीची हुई जाती है। यह भी सोचता था कि पत्रिका निकलने पर बम्बई के अपने जीवन को मैं सफलता-पूर्वक निभा ले जाऊंगा। दरअसल कोरा फिल्मी जीवन मुझे काटता था। मैंने उलट-फेर कर वहुविधि डागा जी को अपनी बात मानने के लिए राजी करना चाहा पर किसी 'दुश्मन' ने भाजी मार दी। मुझे यह तो याद नही कि मैंने रामविलास को इस पत्र का उत्तर कब दिया पर इतना कह सकता हू कि अपनी असफलता पर दुखी अवश्य हुआ था।

हिन्दी के सम्बन्ध मे यह लगन रामविलास के मन मे मैंने सदा से 'जागती ज्योति-सी' देखी है। यहा यह स्पष्ट कर देना बहुत ही जरूरी है कि किसी भी भाषा के प्रति विलास के मन मे अनादर या अवज्ञा की भावना कभी एक क्षण के लिए भी नही आई। विलास के प्रगतिशील विद्वान मित्रो ने कभी-कभी उन्हें सकीर्णता-वादी प्रच्छन्न हिन्दू भी माना है। एक सज्जन ने एक बार रामविलास के सम्बन्ध मे बातें चलने पर बडे घुमाव-फिराव के साथ मुझसे कहा, "भइ, तुम्हारे दोस्त के आलिम होने मे तो दो रायें हो ही नही सकती मगर वे तअस्सुब जरूर रखते हैं।" मैं विलास को तअस्सुबी नही मानता। उर्दू के प्रति उनके मन मे दुर्भावना तनिक भी नही। हा, यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे उर्दू के हिमायती आन्दोलनकारियो की हिन्दी के प्रति हिकारत-भरी नजर से चिढते अवश्य रहे। और रामविलास जब चिढते हैं तो चिढानेवाले की नाक पिच्ची किए बिना उसे छोडते नही। हिन्दी के प्रति उर्दू के हिमायतियो, काले साहबो और दूसरी भाषाओ के 'स्नाब स्कालरो' की बगैर पढी समझी अन्यायपूर्ण आलोचनाओं से वे तडप उठते हैं। सेर के जवाब मे यदि वे सवा सेर फेंकते तो शायद इतने बदनाम कभी न होते लेकिन सेर पर ढैया, पसेरी या दससेरा बटखरा खीच मारना रामविलास का स्वभाव है। बैसवारे के लोग बडे अक्खड और जबर्दस्त लट्ठमार होते है—विलास है तो आखिर ठेठ बैसवारे के ही।

सन् १९३८-'३९ के दिनों मे ऑल इडिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति से मोर्चा लेने के लिए रायबहादुर प० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने लखनऊ से आकाशवाणी नामक एक बुलेटिन प्रकाशित करना प्रारभ किया था। रामविलास उसके लिए नित्यप्रति अपनी ड्यूटी बाधकर रेडियो सुनते और बुलेटिन के लिए मसाला बटोरते थे। इलाहाबाद के मासिक पत्र 'तरुण' मे उनका और श्री रघुपतिसहाय

फिराक का दगल भी हुआ था। रामविलास ने फिराक साहब को उठाकर धोय-धोय पटका। जिस हिन्दी की कमजोरियों के प्रति विलास स्वय कटु आलोचक रहे हैं उनके लिए भी वे बाहरी आलोचकों का प्रहार नही सह पाते। आप उनकी मातृभाषा की अगर एक कमजोरी दिखलाएगे तो जब तक वह आपकी मातृभाषा या अपनाई हुई भाषा की एक दर्जन कमजोरियाँ न दिखला लेंगे तब तक उनका चैन नही पड सकता। यहा रामविलास सीधे लठैत हो जाते है। उन्हे यह भी परवाह नही रहती कि वह न्याय कर रहे है अथवा अन्याय। रामविलास अपने विरोधियो को स्वपक्ष मे पडने का प्रयत्न कभी नही करते। सत्य और न्याय ऐसे अवसरो पर उनके हाथ मे तलवार बनकर आता है जिसके द्वारा अपने विरोधी की हत्या किए बगैर वो रुक ही नहीं सकते।

सन् १९३६ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन काशी मे हुआ था। हिन्दी हिन्दुस्तानी वाली बहस की दृष्टि से यह सम्मेलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से विदा ले रहे थे और सम्पादकाचार्य प० अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी नये अध्यक्ष चुने गए थे। इसी वर्ष निराला जी को सम्मेलन के अतर्गत साहित्यिक परिषद् का अध्यक्ष भी चुना गया था। लखनऊ से हम और रामविलास साथ ही साथ गए थे। हम दोनो ही यहा स यह तय करके चले थे कि अधिवेशन की एक बहुत उम्दा रिपोर्ट तैयार की जाए। मैं इसी उद्देश्य से नोट्स तैयार कर रहा था। मेरी सहायता के लिए रामविलास ने भी कुछ नोट्स प्रस्तुत किए। चूकि साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष निराला जी थे इसलिए रामविलास को एक निबन्ध पढकर सुनाना था। वह निबन्ध लखनऊ मे ही तैयार हो चुका था। मुझे यह विश्वास तो था कि वह अपना प्रभाव डालेगा मगर सभा मे उसके कल्पनातीत जोरदार प्रभाव को देखकर मैं और स्वय रामविलास भी दग रह गए। सन् '३६ के अगस्त या सितम्बर मास की 'माधुरी' म मेरा लिखा वह सस्मरण सम्पादकीय स्तम्भ मे गुमनाम तौर से प्रकाशित हुआ है। रामविलास से सम्बन्धित उस सस्मरण की कुछ पक्तिया यहा उद्धृत कर रहा हू, "साहित्य परिषद् के सभापति थे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और स्वागताध्यक्ष थे श्री रामचन्द्र शुक्ल।'''निराला जी के भाषण के बाद श्री रामविलास शर्मा अपना निबन्ध पढने के लिए खडे हुए। माइक्रोफोन ऊच। था। माननीय श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने कहा 'निराला जी को

माइक्रोफोन के लिए झुकना पडता था।' शर्मा जी ने तत्काल ही उत्तर दिया 'जहा निराला जी झुके हैं वहा मैं सिर उठाऊगा।' निराला जी मुस्कराकर टण्डन जी से कहने लगे, 'देखिए ये आधुनिक साहित्य के प्रतिनिधि हैं।'

"साधारण खद्दर के कुरते मे चमकते हुए कसरती बदन, सौम्य मुखमण्डल और ज़ोरदार आवाज मे शर्मा जी के तर्कयुक्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध ने जान डाल दी। साहित्य सम्मेलन-भर मे और कोई भी इतना ओजस्वी भाषण नही हुआ। जनता उत्साह से बार-बार करतल ध्वनि करती थी। तदुपरान्त··· 'सर्वोदय' सम्पादक महात्मा गाधी के प्रिय शिष्य, काका कालेलकर के भाषण से यह साफ टपक रहा था कि वे रामविलास शर्मा के भाषण का उत्तर देने के लिए खडे हुए हैं। उनके भाषण मे असफल खीझ काफी मात्रा मे थी।"

उक्त निबन्ध ने रामविलास को सम्मेलन का हीरो बना दिया। हम नौजवान तो खुश थे ही, हिन्दी परिवार के बडे-बूढे भी उनसे खूब सन्तुष्ट और बेहद प्रसन्न थे। वहा ही मैंने पहली बार गौर से यह देखा कि निराला जी रामविलास की सफलता को ठीक उसी प्रकार मौन आनन्द से ग्रहण करते हैं जैसे कोई बाप अपने बेटे की सफलता को सकारता है। बाद में तो प्राय. प्रतिदिन मैं अपनी 'नई खोज' के प्रमाण पाता रहा।

रामविलास के प्रति निराला जी का प्रेम अबाध और अगाध था। बहुतो को शायद यह बात अटपटी-सी मालूम होगी पर यह हकीकत है कि निराला जी को यदि मैंने किसीके सामने झुकते देखा है तो रामविलास के सामने ही। मेरी यह आदत थी कि निराला जी जब गर्माने लगते थे तो मैं उनसे बहसबाजी करना बन्द कर देता था। इससे निराला जी और भी अधिक हुमस-हुमसकर गर्जा करते थे मगर मुझे निरुत्तर पाकर थोडी देर मे ही चुप भी हो जाया करते थे। रामविलास मेरी जैसी चुप्पी के कायल न थे, जहा निराला जी ने गर्जन-तर्जन आरम्भ किया नही कि रामविलास ने उन्हे और चहकाना शुरू कर दिया। विनास की टेकनीक यह रहती थी कि निराला जी के उबाल पर ठण्डे पानी के चुल्लू जैसा एक छोटा-सा वाक्य फेंक देते थे। विरोध पाकर निराला जी और उबलते, रामविलास फिर एक फुलझडी छोड देते। निराला जी फिर तो जोश-कर अपने लम्बे-लम्बे बालों और यूनानी देवताओं जैसे शरीर को बार-बार झटका दे-देकर बबर शेर की तरह दहाडने लगते। रामविलास मौका साधने लगते,

जहा निराला जी के एक वाक्य के पूरा होने और दूसरे वाक्य की उठान के बीच में ज़रा-सा भी थमाव आता वहीं एक चुभता हुआ फिकरा अपने ठण्डे स्वर में और छोड देते। बस फिर तो निराला जी क्रोध से बावले हो उठते थे। अपने क्रोध के लिए अपने अन्दर कोई जोरदार तर्क न पाकर वह बेचारे उत्तर तो दे न पाते थे, हा, हारे हुए पहलवान की तरह घूर-घूरकर रामविलास को देखते हुए वे बडबडाने लगते थे। रामविलास अपने स्वभाव से विवश हैं। बेतुकी बात सुनकर उनसे बगैर जवाब दिए रहा ही नहीं जाता।

सन् '४४ मे रामविलास बम्बई आए। उस समय तक वे प्रगतिशील आन्दोलन से प्रभावित होकर बहुत हद तक मार्क्सवादी हो चुके थे। प्रगतिशील लेखक सघ से उनका निकट सम्बन्ध स्थापित करनेवालों में मेरा ख्याल है सबसे बड़ा हाथ कविवर नरेन्द्र शर्मा का था। नरेन्द्र जी भी तब तक फिल्म-क्षेत्र से सम्बद्ध होकर बम्बई आ बसे थे। हम तीनों का वहा मिल जाना हम तीनो के लिए ही अत्यन्त लाभप्रद हुआ। सन् '४२ के आन्दोलन के बाद मेरा मन बहुत बिखर गया था। उस समय ऐसा लगता था कि राष्ट्रीय आन्दोलन अब खत्म हो गया। जेलो मे बंद नेता अब लडाई चलने तक न छूटेंगे और लडाई कब तक खत्म होगी यह उन दिनो कहा नही जा सकता था। रामविलास की नई उपलब्धि—मार्क्सिस्ट विचारधारा मुझे भी लुभाने लगी। हम लोग घटो आपस मे बात करते। एक दिन शाम को घर लौटने पर बातो के प्रसग मे विलास ने मुझे बतलाया कि वे कम्युनिस्ट पार्टी के विधिवत सदस्य बन गए हैं। सुनकर मेरे दिल को एकाएक धक्का लगा। किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य हो जाना मुझे चूकि स्वय अपने लिए पसन्द नहीं आता था इसलिए रामविलास का यह काम मैं सराह न सका। मैंने कहा, "तुमने यह अच्छा नहीं किया। पॉलिटिकल नेता अधिकतर साहित्य को बडे ही हल्के तौर पर ग्रहण करता है।"

रामविलास बोले, "कम्युनिस्ट पार्टी तुम्हारी काग्रेस की तरह नहीं है

विचारधारा की पुस्तकों का गभीर अध्ययन मैंने अवश्य आरम्भ कर दिया। रामविलास तेजी से पार्टी मे आगे बढे, लेकिन जहा तक मैं जानता हू उन्हें पार्टी की अन्तरगता मे कभी भी प्रविष्ट नही कराया गया। उनकी विद्वत्ता अच्छे-अच्छों को अपने वस मे कर लेती थी। सन् '४६ मे रामविलास प्रगतिशील आन्दोलन के प्रमुखतम नेता मान लिए गए और यहीं से उनके और पार्टी के रिश्तो मे अन्तर पडना भी प्रारभ हो गया। पोलिटिकल लीडरी मे ऊचा स्थान पाते ही लोग-बाग अपनी गद्दी को कायम रखने के लिए गुटबाजी के चक्र मे पड जाते हैं, अपना गुट बनाना, दूसरो के गुट तोड़ना हर लीडर का धर्म है। प्रगतिशील लेखक सघ के महामत्री डॉ० रामविलास शर्मा ऐसी लीडरी करने के आज भी सर्वथा अयोग्य हैं, उस समय तो थे ही। वे निर्भीक विचारक और समालोचक की तरह दूसरे लोगो की कमजोरियो को टोक देते थे। यह टोक-टाक बहुतो को अन्दर ही अन्दर सहमा देती थी। अनेक प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक रामविलास की आलोचनाओं से आतकित हो उठे। दबे-छिपे उनका विरोध होने लगा। कम्युनिस्ट पार्टी मे श्री बी० टी० रणदिवे का सत्ताकाल समाप्त हुआ और करीब-करीब उसके साथ ही साथ रामविलास की साहित्यिक लीडरी भी खत्म होने लगी। रामविलास अपने आलोचकों को बराबर मुहतोड जवाब देते रहे। प्रगतिशीलों ने रामविलास पर यह आरोप लगाया कि उनकी आलोचनाओं के कारण ही साहित्य का प्रगतिशील आन्दोलन चौपट हो रहा है। अनेक मार्क्सिस्ट या कम्युनिस्ट लेखक ही नही चिढे वरन् अनेक ऐसे लेखक, जो कहीं न कहीं पर विचारसाम्य होने के कारण प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़े हुए थे, एकाएक बेहद नाराज हो उठे। बहाने के तौर पर पन्त जी की तत्कालीन नई कृतियो, स्वर्णकिरण आदि की रामविलास द्वारा की गई तीखी आलोचना इस विरोध के लिए तात्कालिक कारण बन गई। यहा तक भ्रम फैलाया गया कि रामविलास चूकि निराला-भक्त हैं इसीलिए उन्होंने पन्त पर प्रहार किए। मैं लोगो के इस तर्क को एक क्षण के लिए भी स्वीकार नहीं कर पाया। रामविलास निराला-भक्त हैं, यह सब जानते हैं पर पन्त के प्रति भी उनकी श्रद्धा किसीसे कम नही, यह हम लोग जानते है। कविवर नरेन्द्र जी की पन्त-भक्ति रामविलास की निराला-भक्ति के समान ही एक लोक विदित सत्य है। रामविलास, नरेन्द्र और मैं—तीनो ही आपस मे गहरे साथी हैं। मुझे आश्चर्य होता

है कि जब स्वयं नरेन्द्र शर्मा को भी रामविलास के विरोध में पन्त के प्रति अश्रद्धाभाव रखने की बात पर आज तक विश्वास नहीं हो सका तब औरों को ही क्यों होता है ?

रामविलास आलोचना के मामले में निस्पृह है। (आखिर असर तो बैसवारे का है ही।) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के भी यही तेवर थे। अपने से सदियों पुराने पुरखे कालिदास से लेकर अपने समवर्ती लेखकों तक को उन्होंने न बख्शा। पूज्य द्विवेदी जी महाराज अपनी इस न्यायोन्मुखी आतंक मुद्रा के बावजूद अपनी सहृदयता के लिए भी प्रसिद्धि पा गए, किन्तु बहुत बाद में। मैं समझता हूं कि 'घमण्डी' डॉ० रामविलास शर्मा के सम्बन्ध में भी कभी न कभी यह लोक-प्रचलित गलतफहमी दूर होकर रहेगी। यों भी इधर वर्षों से उन्होंने अपना समालोचकीय आतंकवाद बहुत कुछ त्याग दिया है। उनके इस त्याग का पुण्य या पाप (जो कुछ भी समझा जाए) अधिकतर मुझे ही मिलना चाहिए। एक बार शाम को भांग के नशे में मैंने रामविलास को बहुत गालियां दीं। रामविलास ठण्डे-ठण्डे सुनते रहे। उनको इस प्रकार गालियां देने का कारण मैंने चूंकि स्पष्ट नहीं किया इसलिए उन्होंने मेरे आवेश के क्षण बीत जाने के बाद मेरी ओर एक सिगरेट बढ़ाते हुए मुझसे पूछा, "तू आखिर चाहता क्या है भैयो ?"

मैंने कहा, "केवल यही चाहता हूं कि यह मुफ्त की ठांय ठांय मोल लेना आज से छोड़ दो। तुम्हारी गली में कुत्ते भौंकते हैं और तुम अपना सारा काम छोड़ हाथ में लाठी लेकर उनके पीछे दौड़ पड़ते हो, यह भला कहां की अक्लमंदी है ?"

रामविलास सिगरेट का कश खींचकर बोले, "ठीक है, अब न करूंगा लेकिन कुत्ते अगर मेरे घर में घुसें तब क्या करूं ?"

मैंने कहा, "तब उन्हें हरगिज न बख्शना।" रामविलास ने तब से अपनी यह लठाभारती प्रायः छोड़ ही दी है। यदि कोई उनसे किसीपर आलोचना-प्रहार करने के लिए कहता है तो वह देते हैं, "भइ, अमृत ने मुझे गली के कुत्तों से लड़ने को मना कर रखा है।" रामविलास के इस तरह लाठी उठाकर रख देने का सुपरिणाम भी स्पष्ट है। उसके बाद रामविलास ने 'सन् सत्तावन की राज्यक्रांति' तथा 'भाषा और समाज' जैसी दो ठोस किताबें हिन्दी में तथा

उन्नीसवी शताब्दी की अंग्रेजी कविता के सम्बन्ध मे एक पुस्तक अंग्रेजी भाषा मे हमे दी है। इस समय भी वे निराला जी और शेक्सपियर पर दो पुस्तके क्रमश हिन्दी और अंग्रेजी मे लिख रहे हैं। मैं समझता हू कि इस तरह उनपर रोक लगाकर मैंने एक अच्छा काम ही किया है। बुराई महज इतनी ही नजर आती है कि लोग-बाग अब रामविलास को दन्त-नखहीन सिंह समझकर उन्हे चिढाने अथवा नजर अन्दाज करने की धृष्टता करने लगे हैं। ऐसे विचारशून्य दम्भियो को यह हरगिज न भूलना चाहिए कि रामविलास ने उनके घर मे घुस आनेवाले कुत्तों को न मारने का वचन मुझे नही दिया।

अक्सर रामविलास के सम्बन्ध मे मैंने लोगो को यह कहते हुए सुना है कि हाऊ, डाक्टर शर्मा विद्वान् तो बडे ऊचे दर्जे के हैं, सज्जन भी हैं बस उनमे खराबी है तो यही कि वो कम्युनिस्ट हैं। यह सुनकर हस पडने के सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैसाकि मैं पहले लिख आया हू कि उनका कम्युनिस्ट पार्टी का मेबर होना स्वय मुझे भी खला था लेकिन खलने का कारण कुछ और था। शुरू मे मुझे यह भय था कि मेरा डॉक्टर अब हिज मास्टर्स वायस बन जाएगा और पार्टी के काम मे फसकर अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा परन्तु ऐसा कुछ भी न हुआ। राजनीति से उनका गहरा लगाव है लेकिन कोरे शास्त्रीय रूप मे ही। कोई भी राजनीतिक पार्टी ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व-शाली पुरुष को पचा नही सकती। पार्टी के ठेकेदारो ने उन्हे अपने अन्दर घुलने-मिलने न दिया। रामविलास भला अपनी ओर से यह प्रयत्न करते ही क्यो? नतीजा यह हुआ कि रामविलास पार्टी के मेबर हो जाने के बावजूद वर्षों मे पार्टी के बाहर ही हैं। उनके कम्युनिज्म को भी अब मैं ठण्डे तौर पर खूब समझता हू। रामविलास का बचपन गाव मे अपने पितामह की छत्रछाया मे बीता। उन्होंने अपने गाव मे सामन्ती और महाजनी अनाचारो को देखा है। वे उन्हे आमूल नष्ट कर देने के लिए ही अपनी कलम के बल पर जूझते है। रामविलास के बाबा-परबाबा और शायद उनसे भी पहले के पुरखे सिपाही थे। बचपन मे अपने पितामह से उन्होंने शौर्य, सचाई और ईमानदारी से सम्बन्धित अनेक बाते सुनी थीं। उसका जोश उनके अन्दर अब तक ज्यो का त्यो विद्यमान है। रामविलास का कम्युनिज्म मूलत उनके बाबा की देन है। रामविलास के बाबा स्वय अपने पुत्र (रामविलास के पिता) से भी इसलिए असन्तुष्ट थे कि उन्होंने

एक साहूकार के यहा नौकरी कर ली थी। वे उन्हे बनिये का नौकर कहकर, सम्बोधित किया करते थे। उन्होंने रामविलास के मन मे अपने पिता के मार्ग पर न चलने देने के लिए एक प्रबल प्रेरणा भर दी थी। नतीजा यह हुआ कि पढ लिखकर रामविलास ठीक-ठीक उस तरह के 'भद्र बाबू साहब' न बन सके जैसे कि गाव के लोग पढ-लिखकर अक्सर बन जाया करते हैं।

रामविलास के मन से धरती की सोंधास कभी गई नही, वे आज तक उसकी महक से महकते हैं। मुझे बचपन ही से तुलसीकृत रामायण के प्रति गहरा लगाव है। सन् '३० के बाद हिन्दी साहित्य मे तेजी से बढनेवाली बुद्धि-वादिता के जमाने ने मेरी सास्कारिक आस्तिकता को गहरा झटका दिया था। उस झटके का उपकार मानता हू। ईश्वर या देवी-देवताओ के प्रति हमारे मनो मे भक्ति की जो अन्धी दौड होती है उसे खत्म होना ही चाहिए। यह तो मेरा मन तब से ही मानने लगा था किन्तु यह बात मेरे गले के नीचे कभी उतर ही न सकी कि प्राचीन धार्मिक-पौराणिक साहित्य पढने योग्य ही नही है या उसमे अन्धी श्रद्धा भक्ति देनेवाले कोरे राम राम के सिवा और कुछ भी नही है। मेरे समवर्ती सुशिक्षित साहित्यिक बन्धु रामायण को ओछी दृष्टि मे देखते थे। बहुतो की दृष्टि मे तुलसीदास रघुवशी राजा रामचन्द्र के भाटमात्र थे। अपने पास उस समय समाजवादी वैज्ञानिक चिन्तन की बुद्धि कम थी। इसलिए जब यूनिवर्सिटी मे पढनेवाले प्रतिभाशाली छात्र श्री रामविलास शर्मा मुझे तुलसीदास की प्रशसा करते हुए मिले तो कह नहीं सकता मुझे कितना बडा बल मिला था। रामविलास जिस दृष्टिकोण से रामचरितमानस की महत्ता बखानते थे वह मुझे स्वय अपना ही लगा। रामविलास एक ओर जहा धार्मिक ढोग धतूरो के कट्टर विरोधी थे वहा ही वे तत्सम्बन्धी साहित्य का नये दृष्टिकोण से मूल्याकन करते हुए उसके प्रगतिशील तत्त्वो को पहचानकर उन्हे प्रतिष्ठा देते थे। उस समय तक तो वे मार्क्सिस्ट या कम्युनिस्ट भी न थे। मेरी रामविलास की घनिष्ठता का तब से लेकर आज तक एक जबर्दस्त कारण यह भी है। इसे मेरा दम्भ न माना जाए कि हम लोगो का दिमाग भाडे का टट्टू नहीं बल्कि अपना है। 'बाबा वाक्यम् प्रमाणम्' की तरह किसी भी बडे आदमी की कही या लिखी हुई बात हम अन्ध श्रद्धाभक्ति से ज्यों की त्यों स्वीकार नहीं करते। हम दोनो ही अपनी धरती अपने जन को अपने चिन्तन मे प्रतिक्षण साथ लेकर चलते हैं। हम अपने निष्कपो

मे अक्सर गलत भी हो सकते हैं यह माना परन्तु हम अपने साथ के और बाद वाली पीढी के भी कोरे किताबी पण्डितो से कही अधिक स्वस्थ और सच्चे हैं।

मेरी और रामविलास की एक आपसी कचोट शुरू से ही चली आती है। रामविलास की यह बडी तबीयत होती है कि वे उपन्यासकार और नाटककार के रूप मे भी सफलता पा सकें, दूसरी ओर मेरे मन को डॉ० अमृतलाल नागर बनने की चाह ने बहुत भरमा रखा है। अभी हाल ही मे रामविलास के शेक्सपियर को जब मेरे अन्दरवाले ड्रामा प्रोड्यूसर ने एक सहज तर्क से आत्मसात कर लिया तो रामविलास दूसरे ही दिन से क्लासिक ग्रीक ट्रेजडी के ढग का नाटक लिखने की धमकी देने लगे। उनकी इस धमकी से मैं भला क्या डरने वाला हू। मैंने कहा, "लिखो, मैं प्रोड्यूस करूगा।" और यह मैं जानता हू कि बच्चू रगमच के विधान मे कही न कही बेतुकी चूक करेंगे ही और मैं दस बार उनसे लिखवाऊगा। इस मामले मे मैं रामविलास से अधिक सयाना हू। 'ये कोठेवालियां' लिखने से पहले मेरे मन मे बडा जोम था कि मैं उसे बिलकुल शास्त्रीय ढग से लिखकर रामविलास की डॉक्टरी को फीका कर दूंगा। अध्याय उस ढग मे बनाए और लिखना भी आरम्भ किया। दो चार दिनो के बाद ही मुझे अपने अन्दर रामविलास का व्यग्य-भरी फिमफिस हसी वाला चेहरा भाकता दिखाई देने लगा। तुरत सोचा कि मैं अपनी किताब मे कहीं न कही रामविलास को अपनी कच्ची पकडे दे जाऊगा। ये मुझे बर्दाश्त न था। तुरत सोचा, पडित बनने के बजाय अपनी किस्सागोई का सहारा लेना ही उचित होगा। और हम दोनो की यह आपसी छेड जब इस अधेड उम्र मे भी हमारे मनो से न गई तो अब मरते दम तक जा न सकेगी। बुरा नहीं, यह हम दोनो की ही जवानी है। इसके सहारे हम होड लगाकर आगे बढते है। यही नही हम दोनो ही एक-दूसरे के अत्यधिक तीखे आलोचक हैं। मैं कोई चीज़ लिखू, उसे सारी दुनिया पसन्द करे मगर यदि वह रामविलास के मन न चढ सकी तो मेरे जी मे भी उतर जाएगी। यही हाल रामविलास का भी है चाहे जो कुछ भी लिखें उनके वास्ते मेरी सराहना पाना उनके लिए अनिवार्य है। रामविलास की 'निराला' वाली पुस्तक मैं उनके प्रकाशक से ले आया। क्योकि वह मुझे पसन्द न थी। प्रकाशक को मेरी यह हठधर्मी खल गई। उसकी नजर मे एक किस्सागो एक चक्रवर्ती समालोचक विद्वान यानी डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक को न छपने दे

और वह भी खास तौर पर निराला के सम्बन्ध में उनकी लिखी हुई पुस्तक हो, यह बहुत ही अजब और बेजा बात थी। मैं वह पाण्डुलिपि अपने साथ आगरा ले आया। मैंने अपनी शिकायतें उनके सामने रखी। किताब नये सिरे से लिखी गई। सुबह रामविलास ढाई-तीन घण्टे बोलते थे, मैं लिखता था। बीच-बीच मे बहसें भी हो जाती थी। इस तरह महीने-डेढ महीने मे वह पुस्तक फिर मे तैयार हुई। कितने ऐसे दोस्त होंगे जो दोस्त का मन रखने के लिए इस तरह अपने लिखे दो-ढाई सौ पृष्ठों को काटकर अजसरे नो उतने ही पृष्ठ फिर से लिखेंगे। अपने मित्रों, भाइयों और बच्चों के प्रति रामविलास चेतन कर्त्तव्यनिष्ठ है। वे एक अच्छे पति, आदर्श शिक्षक, उम्दा पडोसी है भले इमान हैं। सादा रहन सहन और ऊचा चितन उनका जन्मजात गुण है। अपना नया घर बन जाने पर वे अपने बच्चों के आग्रह और भाभी (श्रीमती शर्मा) की कृपा से अब जरा भद्रबाबुओचित ढग से रहना सीखे है।

रामविलास के ससमरण लिखने को अभी बहुत जी नही चाहता। इसे भले ही मेरा खब्त समझ लिया जाय मगर तमन्ना यही है कि मैं अपने दोस्तो के ससमरण न लिखू और उन सबको ही मेरे मम्मरण लिखने के लिए नियति मजबूर करे। रामविलास को अभी बहुत-बहुत जीना चाहिए। रामविलास के मन मे अभी बीस अच्छी किताबों की योजना बडे सुलझे और साफ तरीके से सजोई हुई मौजूद है और मेरी इच्छा है कि वह ये सब-कुछ लिख जाए। रामविलास सपूर्ण जीवन को आचमन कर जाने की तडप रखने वाले अथक साधक है। उनकी इसी साधना पर तो मैं निसार हू।.

उनकी एक कचोट और है, व मुझसे ढाई साल बडे है। वे और नरेन्द्र शर्मा समवयस्क है। एक सी घनिष्ठता होते हुए भी मैं नरेन्द्र जी को 'आप' कहकर सबोधित करता हू और डॉक्टर का तुम या तू कहकर। बात असल मे यह है कि नरेन्द्र जी से मेरी घनिष्ठता बाद मे हुई इसलिए उम्रोचित तकल्लुफ मैं उनके साथ सहजभाव मे बरत गया जबकि रामविलास के साथ मेरा यह खाता शुरू से ही न पड सका। मैं कई बार समझा चुका कि नरेन्द्र जी के आप और तेरे तुम मे कोई मौलिक भेद नहीं। पर क्या कहू, इतने बडे विद्वान को यह मामूली सी बात भी आज तक समझ म नही आई। खीझकर अब मैंने यह तय किया है कि जब रामविलास का षष्ठिपूर्ति समारोह होगा तब सार्वजनिक रूप से मैं उन्हे

अपना अग्रज मानकर उनके पैर छू लूगा। लेकिन उसके बाद फिर वही गाली-गलौज और तू-तडाक, जस की तस। मेरे जीते जी उन्हे इससे तो मुक्ति मिल ही नही सकती।

[१९६४]

※

मेरे अभिन्न नरेन्द्र शर्मा

सत्ताईस फरवरी, सन् १९६३ ईसवी। सुबह ही से मेरी पत्नी ने याद दिलाना शुरू किया, "आज तार लगाना न भूलना जिसमे कल सवेरे तक नरेन्द्र जी को मिल जाए।"

"हा, हा, लगा दूगा।" दिन मे भोजन के समय पत्नी ने फिर तार की याद दिलाई। मैंने कहा, "याद है बाबा, याद है।" लेकिन यह कहने के साथ याद आई तो कविवर की स्वर्णजयन्ती की नही वरन् उनकी नवजवानी के दिनो की—सन् '३६-'३७ के दिनो की—जब नरेन्द्र शर्मा के गीत गा-गुनगुनाकर हम लोग अपने नवजवान दिलो मे प्यार और रोमास की भावनाओं को पोसा करते थे। बच्चन, नरेन्द्र, दिनकर उन दिनो हमारे दिलो को ताजगी देनेवाले ताजे-ताजे नाम थे। हमारे सौभाग्य से उन दिनो भद्दे फिल्मी गानो की भरमार न थी। कविताए पढी और गाई जाती थी। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, भगवती-चरण आदि के गीत धीरे-धीरे हमारे दिलो मे घर कर चुके थे। कवि सम्मेलनो की बाढ आ चुकी थी। अपने साथी-से लगने वाले बराबर की आयु के बच्चन, नरेन्द्र हमारे मन मोहने लगे थे। मैं तब से ही नरेन्द्र जी के प्रशसको मे हू। सन् '३७-'३८ के लगभग ही इलाहाबाद जाने पर मेरा-उनका परिचय हुआ। घनिष्ट हम बाद मे हुए, लगभग पाच-छ वर्ष बाद बम्बई मे। वह घनिष्ठता फिर अभिन्नता मे बदल गई। नरेन्द्र जी अब हमारे परिवार के ही एक अग बन गए हैं। घर मे औरो की वर्षगाठ पडने पर जैसे मुह मीठा किया जाता है वैसे ही प्रतिवर्ष २८ फरवरी के दिन हमारे घर मोहनभोग बनता है। उस दिन तीसरे पहर पत्नी फिर याद दिलाने आईं, "तार लगा दिया ?" "हा हा बाबा, हा ! तुम क्यो बुढापे को बधावा देने के लिए आज सवेरे से ही मेरे पीछे पडी हो ?"

'बुढापा क्या बुरी चीज है ? अपने जवान बच्चो की सूरतें देखो और

कलेजे पर हाथ धरके कहो कि बुढापा बुरा लगता है।" मैं लाजवाब हो गया। सचमुच अपने आगे की जवान पीढी को देखते हुए अपनी ओर बढता हुआ बुढापा बुरा नही लगता और फिर पचास वर्ष की आयु भी कोई आयु है। हमारे यहा *लोग साठे पर पाठे होते हैं। इस तरह तो अब बन्धुवर की नवजवानी का काल* आरम्भ हुआ है, भले ही इस नई नवजवानी के दौर मे कविवर 'आज न सोने दूगी बालम' जैसे गीत न लिखें। उस दिन फिर बडी देर तक नरेन्द्र जी के पिछले जीवन की बातो मे मेरा ध्यान रमा रहा।

मैं पूरब का रहनेवाला हू, लखनऊ का बाशिंदा, पुरखे इलाहाबादी थे। मेरी पत्नी आगरे की हैं, पछाह की। नरेन्द्र जी भी खुरजा के हैं, पछाह के। अक्सर पूरब-पच्छिम विवाद छिड जाता है। नरेन्द्र जी लखनऊ के नवाबो से लेकर पूर्वी यू० पी० के भातखौवा लोगो तक पर पैनी चोटें कर जाते है। मेरे पास उन्हे पछाडने के लिए दो ही तर्क हैं, एक तो खुरजा नाम—कुरु जागल यानी कौरवो का जगल। इस दृष्टि से हम शहरी लोग नरेन्द्र जी को आखिर क्या कहे, दूसरे *काव्य की दृष्टि से वह इलाका निहायत बाझ किस्म का है। ढाई सौ वर्षो* मे कुल जमा दो प्रसिद्ध कवि वहा से मिले, एक सेनापति, दूसरे नरेन्द्र शर्मा। बुलन्दशहर ज़िले के इन दोनो ही कवियो को प्रतिष्ठा मिली पूर्वी यू० पी० के इलाहाबाद मे। बन्धुवर नरेन्द्र जी इस तर्क के आगे मौन हो जाते हैं। जब साहित्य-क्षेत्र मे उन्हे अपनी जन्मभूमि की प्रशसा के लिए बल नही मिलता तो चट से कहने लगते हैं कि रबडी और खुरचन के मज़े जो हमारे यहा है वो आप लोगो को नसीब नही। मैं मिठाई-भक्त हू इसलिए उनके इस तर्क को काट नही पाता। जो भी हो, इतना अवश्य कह सकता हू कि इलाहाबाद के प्रति उनके मन मे अत्यधिक आकर्षण होने के बावजूद, बम्बई मे घर बसा लेने के बाद भी नरेन्द्र जी अपने जहागीरपुर ग्राम को भूल नही पाते, उन्हे वहा की *मिट्टी से मोह है। सम्पन्न गौड ब्राह्मण के परिवार मे* शुक्रवार, २८ फरवरी सन् १६१३ ई० मे उनका जन्म जहागीरपुर मे हुआ था। उनका घर गाव मे 'स्वामियो का घराना' कहलाता है। नरेन्द्र जी की अल्पायु मे ही उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया, उन्हे अपने दो ताउओ का ही सरक्षण और प्यार मिला। पढने मे शुरू ही मे तेज़ थे इसलिए गाव की पढाई पूरी करने के बाद वे खुरजा भेज दिए गए। ये जिस स्कूल मे पढते थे उसके हेडमास्टर आज के

सुप्रसिद्ध नाटककार श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस० के पिता थे। नरेन्द्र जी उनके अत्यन्त ही प्रिय छात्र हो गए। आयु मे तीन-साढे तीन वर्ष बडे होने के कारण उसी नाते जगदीशचन्द्र जी आज तक नरेन्द्र जी को 'नरेन्द्र भाई' कहकर पुकारते हैं। खुरजा म रहते हुए नरेन्द्र जी के मन पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पडा और नवजवान भारत सभा का भी। उनके अ तर का कवि भी शायद पहले पहल यही उदय हुआ।

इण्टरमीडिएट पास करने के बाद बन्धुवर श्री नरेन्द्र इलाहाबाद चले आए। खुरजा की कुछ मीठी यादो ने टीस बनकर नरेन्द्र जी के मन मे पलना आरम्भ कर दिया। कविताए तेजी से लिखने लगे और उनकी कविताए 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर भी छपने लगी। इसी बीच मे उन्हे अपने परमप्रिय कवि श्री सुमित्रानदन पत से साक्षात् मिलने और घनिष्ठ होने का अवसर भी मिला। तब से आज तक पत जी के प्रति उनका वैसा ही अनन्य श्रद्धा-भाव है। नरेन्द्र शर्मा कुछ ही दिनो मे पक्के इलाहाबादी हो गए। सुकविद्वय शमशेरबहादुरसिंह और केदारनाथ अग्रवाल तथा कहानी-लेखक श्री वीरेश्वरसिंह हिंदू बोर्डिंग हाउस मे उनके साथी थे। बच्चन जी से उनका मन मिला हुआ था और ये सब के सब महामस्त नवजवान थे। पत, महादेवी, भगवतीचरण इनके अग्रज थे। प्राय सभी बडो ने नरेन्द्र जी के लाड लडाए। स्व० नवीन जी नरेन्द्र जी को पुत्रवत् मानते थे। मस्ती, हाजिरजवाबी, कुशाग्र बुद्धि और अपनेपन का भाव नरेन्द्र जी की मोहिनी शक्तिया हैं।

इलाहाबाद श्री नरेन्द्र के व्यक्तित्व की विकास भूमि है। यहा उन्होंने 'भारत' के सम्पादकीय विभाग मे काम किया, पत जी के साथ 'रूपाभ' सम्पादक के रूप मे प्रगतिशील विचारधारा के पोषक और अगुवा बने, अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी के दफ्तर म उपसचिव की हैसियत से काम किया, राष्ट्रीय आदोलन मे सक्रिय भाग लिया। कुछ दिनो काशी मे अध्यापक रहे। राष्ट्रकर्मी होने के 'अपराध' मे उन्हे जेल की सजा भी भुगतनी पडी। जहा तक मुझे याद पडता है बनारस जेल मे श्रद्धेय डॉ० सम्पूर्णानद जी, सुप्रसिद्ध क्रातिकारी स्व० शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि उनके साथ ही थे। बनारस जेल से नरेन्द्र जी को देवली कैम्प जेल म भेजा गया। उन दिनो राष्ट्रीय कैदियो के लिए देवली जेल रौरव और कुम्भीपाक नरको से भी अधिक कष्टप्रद मानी जाती थी। देवली

जेल के राजनैतिक बन्दियों द्वारा की जानेवाली उन दिनों की बहुचर्चित भूख-हड़ताल में श्री नरेन्द्र भी शामिल थे। इन तमाम कष्टों को भोगते हुए भी देवली में नरेन्द्र जी ने अध्ययन खूब किया। देवली जेल के पुस्तकालय ही में नरेन्द्र जी को ज्योतिष-विद्या सम्बन्धी साहित्य पढ़ने का अवसर भी अकस्मात् मिल गया।

जेल-यातनाओं ने नरेन्द्र जी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। जेल-मुक्त होने के बाद वे रोग-ग्रस्त हो गए। मैं उन दिनों बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में लेखन-कार्य करता था। भगवतीचरण जी वर्मा भी उन दिनों बॉम्बे टाकीज़ में ही काम करते थे। वहां एक गीतकार की आवश्यकता थी, भगवती बाबू आग्रह-पूर्वक नरेन्द्र जी को बॉम्बे टाकीज़ में ले आए। पहली ही फिल्म 'वसंत' में गीतकार की हैसियत से नरेन्द्र जी ने अपने झण्डे गाड़ दिए। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में श्री नरेन्द्र की लोकप्रियता तेज़ी के साथ बढ़ी, एक दोष भी आया। फिल्मवाले ज्योतिषियों के पीछे दीवाने रहते हैं, बहुत-से प्रोड्यूसर, डाइरेक्टर, अभिनेता और अभिनेत्रियां अपनी-अपनी जन्म-कुण्डलियां लिए हुए वक्त-बेवक्त कविवर को घेरा करते थे। मुझे बड़ी झुंझलाहट होती थी लेकिन कविवर किसीको भी निराश न लौटाते थे। उनकी इस उदारता ने फिल्म-क्षेत्र के लोगों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। आज फिल्म-क्षेत्र से जबकि उन्होंने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है तब भी फिल्म-क्षेत्र के बड़े-बड़े नाम चीन्ह लोग उनके प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करते हैं। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी हम लोगों ने अपनी साहित्य-साधना नहीं छोड़ी। द्वितीय महायुद्ध के काल में पुरानी पत्र-पत्रिकाएं क्रमशः निस्तेज हो चुकी थीं। साहित्य के क्षेत्र में गति-अवरोध सा उत्पन्न हो चुका था। नरेन्द्र जी की प्रेरणा से ही बम्बई से द्वैमासिक पत्र 'नया साहित्य' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'नया साहित्य' ने अपने ढंग से केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य की भी अच्छी सेवा की। इस पत्र की देखा-देखी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी कई नई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

सन् १६४५ के अन्त में नटराज श्री उदयशंकर के निमंत्रण और श्रद्धेय पन्त जी के आग्रह पर मैं 'कल्पना' चित्र के सिनेरियो-सम्वाद लिखने के लिए मद्रास गया। छः महीने वहां रहा। इस बीच में दो बार बन्धुवर नरेन्द्र जी

सुप्रसिद्ध नाटककार श्री जगदीशचन्द्र माथुर आई० सी० एस० के पिता थे। नरेन्द्र जी उनके अत्यन्त ही प्रिय छात्र हो गए। आयु मे तीन-साढे तीन वर्ष वडे होने के कारण, उसी नाते जगदीशचन्द्र जी आज तक नरेन्द्र जी को 'नरेन्द्र भाई' कहकर पुकारते हैं। खुरजा मे रहते हुए नरेन्द्र जी के मन पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पडा और नवजवान भारत सभा का भी। उनके अन्तर का कवि भी शायद पहले-पहल यहीं उदय हुआ।

इण्टरमीडिएट पास करने के बाद बन्धुवर श्री नरेन्द्र इलाहाबाद चले आए। खुरजा की कुछ मीठी यादो ने टीस बनकर नरेन्द्र जी के मन मे पलना आरम्भ कर दिया। कविताए तेजी से लिखने लगे और उनकी कविताए 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर भी छपने लगीं। इसी बीच में उन्हे अपने परमप्रिय कवि श्री सुमित्रानदन पत से साक्षात् मिलने और घनिष्ठ होने का अवसर भी मिला। तब से आज तक पत जी के प्रति उनका वैसा ही अनन्य श्रद्धा-भाव है। नरेन्द्र शर्मा कुछ ही दिनो मे पक्के इलाहाबादी हो गए। सुकविद्वय शमशेरबहादुरसिंह और केदारनाथ अग्रवाल तथा कहानी-लेखक श्री वीरेश्वरसिंह हिंदू बोर्डिंग हाउस मे उनके साथी थे। बच्चन जी से उनका मन मिला हुआ था और ये सब के सब महामस्त नवजवान थे। पत, महादेवी, भगवतीचरण इनके अग्रज थे। प्राय सभी बडो ने नरेन्द्र जी के लाड लडाए। स्व० नवीन जी नरेन्द्र जी को पुत्रवत् मानते थे। मस्ती, हाज़िरजवाबी, कुशाग्र बुद्धि और अपनेपन का भाव नरेन्द्र जी की मोहिनी शक्तिया हैं।

इलाहाबाद श्री नरेन्द्र के व्यक्तित्व की विकास-भूमि है। यहा उन्होंने 'भारत' के सम्पादकीय विभाग मे काम किया, पत जी के साथ 'रूपाभ' सम्पादक के रूप मे प्रगतिशील विचारधारा के पोषक और अगुवा बने, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर मे उपसचिव की हैसियत से काम किया, राष्ट्रीय आदोलन मे सक्रिय भाग लिया। कुछ दिनो काशी मे अध्यापक रहे। राष्ट्रकर्मी होने के 'अपराध' मे उन्हे जेल की सजा भी भुगतनी पडी। जहा तक मुझे याद पडता है बनारस जेल मे श्रद्धेय डॉ० सम्पूर्णानद जी, सुप्रसिद्ध क्रातिकारी स्व० शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि उनके साथ ही थे। बनारस जेल से नरेन्द्र जी को देवली कैम्प जेल मे भेजा गया। उन दिनो राष्ट्रीय कैदियो के लिए देवली जेल रौरव और कुम्भीपाक नरको से भी अधिक कष्टप्रद मानी जाती थी। देवली

जेल के राजनैतिक बन्दियों द्वारा की जानेवाली उन दिनों की बहुचर्चित भूख-हड़ताल में श्री नरेन्द्र भी शामिल थे। इन तमाम कष्टों को भोगते हुए भी देवली में नरेन्द्र जी ने अध्ययन खूब किया। देवली जेल के पुस्तकालय ही में नरेन्द्र जी को ज्योतिष-विद्या सम्बन्धी साहित्य पढ़ने का अवसर भी अकस्मात् मिल गया।

जेल-यातनाओं ने नरेन्द्र जी के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। जेल-मुक्त होने के बाद वे रोग-ग्रस्त हो गए। मैं उन दिनों बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में लेखन-कार्य करता था। भगवतीचरण जी वर्मा भी उन दिनों बॉम्बे टाकीज़ में ही काम करते थे। वहां एक गीतकार की आवश्यकता थी, भगवती बाबू आग्रह-पूर्वक नरेन्द्र जी को बॉम्बे टाकीज़ में ले आए। पहली ही फिल्म 'वसंत' में गीतकार की हैसियत से नरेन्द्र जी ने अपने झण्डे गाड़ दिए। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में श्री नरेन्द्र की लोकप्रियता तेज़ी के साथ बढ़ी, एक दोष भी आया। फिल्मवाले ज्योतिषियों के पीछे दीवाने रहते हैं, बहुत-से प्रोड्यूसर, डाइरेक्टर, अभिनेता और अभिनेत्रियां अपनी-अपनी जन्म-कुण्डलियां लिए हुए वक्त-बेवक्त कविवर को घेरा करते थे। मुझे बड़ी झुंझलाहट होती थी लेकिन कविवर किसीको भी निराश न लौटाते थे। उनकी इस उदारता ने फिल्म-क्षेत्र के लोगों पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। आज फिल्म-क्षेत्र से जबकि उन्होंने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है तब भी फिल्म-क्षेत्र के बड़े-बड़े नाम चीन्ह लोग उनके प्रति श्रद्धाभाव प्रकट करते हैं। बम्बई के फिल्म-क्षेत्र में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी हम लोगों ने अपनी साहित्य-साधना नहीं छोड़ी। द्वितीय महायुद्ध के काल में पुरानी पत्र-पत्रिकाएं क्रमशः निस्तेज हो चुकी थीं। साहित्य के क्षेत्र में गति-अवरोध-सा उत्पन्न हो चुका था। नरेन्द्र जी की प्रेरणा से ही बम्बई से द्वैमासिक पत्र 'नया साहित्य' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 'नया साहित्य' ने अपने ढंग से केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय साहित्य की भी अच्छी सेवा की। इस पत्र की देखा-देखी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी कई नई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ।

सन् १९४५ के अन्त में नटराज श्री उदयशंकर के निमन्त्रण और श्रद्धेय पन्त जी के आग्रह पर मैं 'कल्पना' चित्र के सिनेरियो-सम्वाद लिखने के लिए मद्रास गया। छः महीने वहां रहा। इस बीच में दो बार बन्धुवर नरेन्द्र जी

मद्रास आए और दोनों बार हम लोग पन्त जी के साथ पाण्डिचेरी श्रीअरविन्द के दर्शन करने के लिए गए। अपनी दूसरी मद्रास-यात्रा के समय ही बन्धुवर ने मुझे यह समाचार दिया कि उनका मन बम्बई की एक सुसंस्कृत गुजराती बाला से बंध रहा है। मैं और मेरी पत्नी दोनों ही इस समाचार से बहुत उल्लसित हुए थे लेकिन पन्त जी को विश्वास नहीं होता था। कहते थे, "अरे बन्धु, आप नहीं जानते, ये नरेन्द्र, ये कभी भला आदमी बनकर अपना घर नहीं बसाएगा।" मैं कहता, "नहीं पन्त जी, इस बार ये आपके लिए बहू अवश्य लाएंगे।"— "भगवान करे, इसको सुमति मिले। मैं तो, जब ये ब्याह करके अपनी पत्नी को घर ले आएगा तभी मानूंगा।" नरेन्द्र जी के प्रति पन्त जी का यह वात्सल्य भाव मैं कभी नहीं भूल पाता। सन् १९४७ में कुमारी सुशीला गोदीवाला से श्री नरेन्द्र का विवाह हुआ। पन्त जी समधी बने, बाकायदा धोती-कुरता पहनकर नरेन्द्र जी की शानदार बरात लेकर गए थे। यदि मैं चितेरा होता तो विवाह मण्डप में बैठकर नई जोड़ी को देखते हुए महाकवि पन्त का चित्र अवश्य ही आंकता। नरेन्द्र जी को गृहस्थ बनते देखकर पन्त जी मानो अपने जीवन की सार्थकता पा रहे थे। दूसरे दिन वर-वधू के स्वागतार्थ होनेवाले मेरे घर के जलसे में पन्त जी ने जिस तन्मयता से अपना काव्यात्मक आशीर्वाद दिया था उसे मैं तो क्या, उस सभा में उपस्थित कोई भी व्यक्ति भूल नहीं सकता। सौ० सुशीला जी को पत्नी के रूप में पाना मेरे बन्धु के लिए सचमुच ही वरदान साबित हुआ। सुशीला जी घर के काम-काज में तो कुशल हैं ही साथ ही साथ कुशल चित्रकर्त्री और कहानी-लेखिका भी है। इन दोनों के इस समय चार सन्ताने हैं—वासवी, मोधी, लावण्य तीन लड़कियां और चि० परितोष, एक कुलदीपक।

पिछले दस वर्षों में नरेन्द्र जी आकाशवाणी के साथ सम्बद्ध है। आकाशवाणी को 'विविध भारती प्रोग्राम' के रूप में श्री नरेन्द्र के कठिन श्रम-फल-स्वरूप एक ऐतिहासिक उपलब्धि हुई है। इसी दौरान में बन्धुवर ने योरप, अमेरिका, जापान आदि देशों की यात्रा भी की। लोक-व्यवहार के कामों में सफलतापूर्वक व्यस्त रहते हुए भी कवि नरेन्द्र की साहित्य-साधना एक दिन के लिए भी नहीं रुकी। अब तक उनके बारह कविता-संग्रह और एक कहानी संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। तीन कविता-संग्रह और भी प्रकाशित होने को हैं। फिल्मों और रेडियो के सुगम संगीत विभाग के लिए रचे गए उनके गीत अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं।

[१९६३]

राष्ट्रवादी कवि सोहनलाल द्विवेदी

जिस तरह छायावादी काव्यधारा की चतुष्टयी बखानते हुए पंत, निराला, प्रसाद और महादेवी के नाम लिए जाते है, उसी तरह यदि राष्ट्रवादी कवि चतुष्टयी का चुनाव किया जाए तो गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (त्रिशूल), माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त और सोहनलाल द्विवेदी के नाम ही हमारे सामने आएगे। यो तो प्राय हर कवि ने कमोबेश राष्ट्रवादी कविताए भी उस काल मे रची थी, पर जिन कवियो ने विशेष रूप से अपने-आपको राष्ट्रवादी काव्यान्दोलन के प्रति ही उत्सर्ग किया था उनका एक इतिहास यदि अलग से लिखा जाए तो ऐसे बहुत-से प्रभावशाली, किन्तु अब भूले बिसरे कवियो के नाम हमारे सामने आएगे, जिन्होंने उस काल की जन-चेतना का निर्माण किया था। ऐसे कवियो मे माधवशुक्ल का सुनाम भी मेरी स्मृति मे इस समय सादर उभर रहा है। उस समय इन स्वनामधन्य राष्ट्रवादी कवियो मे सोहनलाल जी हर तरह से नये थे। उनका काव्य-व्यक्तित्व दरअसल राष्ट्रवादी और छायावादी गगा यमुना का सगम तीर्थ है। इसीलिए स्वाधीनता-सग्राम-काल मे आयोजित होने वाले कवि-सम्मेलनो के मच पर अवतरण होने पर सोहनलाल द्विवेदी का स्वागत ऋतुनायक के समान हुआ था। मेरा ख्याल है, बहुत-से लोग मेरे साथ-साथ इस बात की गवाही देंगे कि उस ज़माने मे पण्डित सोहनलाल जी द्विवेदी के बिना एक तो कोई बडा कवि-सम्मेलन हो ही नही सकता था, और यदि होता भी तो ऐसे ही लगता जैसे बिना नमक की दाल।

यो तो आज भी जिस कवि-सम्मेलन मे सोहनलाल जी पहुच जाते है उसकी शोभा ही न्यारी हो जाती है, पर उस जमाने की बात कुछ और भी न्यारी थी। उन दिनो व कवि-सम्मेलनो के 'राइजिंग स्टार' (उगते सितारे) थे—जैसी ओजस्वी उनकी कविताए वैसी ही वाणी और वैसा ही आकर्षक उनका व्यक्तित्व।

न हाथ एक शस्त्र हो।
न साथ एक अस्त्र हो।
न अन्न, नीर, वस्त्र हो।
हटो नहीं, डटो वहीं,
बढ़े चलो बढ़े चलो।

कवि के साथ पण्डाल मे उपस्थित हजारो श्रोताओ के सम्मिलित स्वर मिलकर सारे आलम को गुजा देते थे, 'बढ़े चलो बढ़े चलो'। गाधी के प्रति यो तो उन्होंने इतना लिखा है कि वे गाधी के चारण कहे जाने लगे परन्तु शायद उनकी दाडी-यात्रा के अवसर पर लिखी गई मोहनलाल भाई की कविता—'चल पडे जिधर दो डग मग मे चल पडे कोटि पग उसी ओर'—उस काल मे गली-गली मे गूजा करती थी। 'किसान' कविता ने भी खूब समा बाधा था। आन्दोलन-काल मे राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देने मे कविवर सोहनलाल द्विवेदी का महत्त्व किसी भी राष्ट्रनायक से कम नही है।

व्यक्तिगत रूप मे कविवर से परिचय होने का सौभाग्य मुझे सन् '३७ या '३८ से पहले न मिल सका था। उन दिनों लखनऊ मे एक राष्ट्रवादी विचार-धारा के दैनिक पत्र 'अधिकार' के प्रकाशन की योजना कार्यान्वित हो चुकी थी। अमीनाबाद मे डी०ए०वी०कालेज के पास एक विशाल भवन मे प्रेस और कार्यालय स्थापित हो चुका था। और सम्पादक के पद पर श्री सोहनलाल द्विवेदी के प्रतिष्ठित होने की बात सुनी जा चुकी थी। उन दिनों मैं भी 'चकल्लस' साप्ताहिक प्रकाशित कर रहा था। स्व० नरोत्तम नागर मेरे साथ उसके सम्पादक थे। एक दिन सवेरे आकर उन्होंने कहा, 'सोहनलाल द्विवेदी के सम्पादक होने की बात सच थी, वे आ गए। मैं उनसे मिलने जा रहा हू, चलोगे?" राजी होने मे मुझे देर न लगी। 'अधिकार' कार्यालय मे पहुचने पर पता चला कि अभी अभी तो यहीं थे। आते होंगे। हम लोग बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर बाद ऊबकर फिर पूछताछ प्रारभ की। व्यावहारिक-से लगने वाले मैनेजरनुमा व्यस्त सज्जन ने मुसकराकर कहा, "उनके बारे मे भला क्या कहा जा सकता है। कविराज ठहरे। आप लोग बैठना चाहे तो बैठें, वरना नाम-पता लिखकर दे जाए, मैं उन्हे दे दूगा।" नरोत्तम उनके नाम एक

पत्र लिखकर रख आए।

दूसरे दिन सवेरे साढे आठ-नौ बजे के लगभग एक नेताछाप सज्जन हमारे घर पधारे। पहचानते देर न लगी, एक कवि-सम्मेलन मे और कई बार प्रकाशित चित्रो मे देखा हुआ चेहरा था। नेताई पोशाक मे भी कवि की अलमस्ती छिपाए न छिपती थी। उनसे मिलकर मैं बडा प्रसन्न हुआ। नरोत्तम जी पास ही मे रहते थे, उन्हे भी बुलवा लिया गया। घंटे-डेढ घटे के साथ मे हम बिराने से अपने बन गए।

कुछ समय के बाद साहित्य-वाचस्पति रायबहादुर (तत्कालीन रायसाहब) पण्डित श्रीनारायण जी चतुर्वेदी के घर पर द्विवेदी जी से फिर मिलने का अवसर मिला। उन दिनो भैया साहब (चतुर्वेदी जी) शिक्षा प्रसार अधिकारी थे और आर्य नगर मे रहते थे। उनका दरबार साहित्यिको का जिन्दा अजायबघर था। कभी-कभी मैं भी वहा चला जाता था। डॉ० रामविलास शर्मा भी जाया करते थे। सच पूछा जाए तो भैया साहब के यहा ही मुझे सोहनलाल जी से मिलने के अवसर अधिक मिले। वैसे हम दोनो की दुनिया काफी अलग-अलग थी। सोहनलाल जी उन दिनो हीरो थे। अपने भक्तो ही से उन्हे अवकाश नही मिलता था। बडे-बडे भक्तगण उन्हे बडे-बडे प्रेमोपहार दिया करते थे। भैया साहब ने उनपर एक तुकबन्दी भी रची थी, जो शायद इस प्रकार थी : 'पण्डित सोहनलाल द्विवेदी, किसने तुमको टोपी दे दी, किसने तुमको धोती दे दी ?' ऐसे मे हमारा-उनका अधिक साथ भला क्योकर होता, फिर भी काव्य-प्रेमी होने के नाते उनकी प्रकाशित रचनाए मुझे सदा उनके निकट ही लाती रही। उनकी 'वासवदत्ता' का मैं बडा आशिक हू। उनकी 'किसान' कविता भी मुझे आज तक प्रिय लगती है। जिन दिनो कविवर की यह कविता धूम मचा रही थी, मैंने उसकी एक पैरोडी भी लिखी थी। उसकी कुछ प्रारभिक पक्तिया अब तक याद हैं :

> यह सजे सजाये रूप हाट,
> जिसमे आते, सब बने, लाट।
> कुछ कोट और पतलून डाट,
> कुछ अचकन से निज बना ठाठ।

कोठे, जिन पर टिकती निगाह,
कोठे, जिन पर बैठतीं आह !
चचल नैयनो में भर अथाह
मद, देख जिन्हे उठते कराह ।

ये पलग और ये पानदान,
ये पीकदान, ये मँघदान,
ये तस्वीरें, सिगारदान,
तबला सारगी, अम्माजान ।
यह तेरी हड्डी पर जवान ।
यह तेरी पसली पर जवान ।

एक बार भैया साहब के घर पर जब कविवर ने बडी मनुहार के बाद भी अपनी कविताए न सुनाई तो हमने अपनी पैरोडी सुनाना आरभ कर दिया था। खूब हसी हुई, बडा आनद आया। पैरोडी सुनने के बाद कविवर न हसकर कहा, 'ऐ बच्चू, अगर तुमने किसी कवि-सम्मेलन मे यह पैरोडी सुनाई तो याद रखना, मैं तुम्हारी ही छडी से तुमको वहीं ठोकना शुरू कर दूगा।" मैंने कहा, "यदि कभी ऐसा अवसर मिला तो सुनान से हरगिज न चूकूगा। आपके इस नाटक से जनता का डबल मनोरजन होगा और मेरी पैरोडी अमर हो जाएगी।" दुर्भाग्यवश तब मे अब तक मेरी उस पैरोडी को अमर होने का अवसर ही नहीं मिल सका। उसे कही छपने का अवसर भी नही मिला। क्योकि 'चक्लस' के अतिरिक्त मैंने अपनी पैरोडिया अन्यत्र कही प्रकाशित नही कराई और 'चक्लस' का प्रकाशन तब तक बन्द हो चुका था। उसकी पाण्डुलिपि भी अब शायद खो चुकी है। खैर, मुझे गम नही क्योंकि मेरी वह तुकबन्दी ता मौके का एक मनोरजन मात्र ही थी। मूल कविता 'किसान' अमर है। आज भी कविवर सोहनलाल जी द्विवेदी की यह कविता मुझे पुराने दिनो के समान ही प्रभावित करती है। वैसी ही नई लगती है :

ये बडे-बडे साम्राज्य, राज युग-युग से आते चले आज ।
ये सिंहासन, ये तख्तताज, ये किले दुर्ग गढ़, शस्त्र साज ।

इन राज्यों की ईंटें महान् इन राज्यों की नींवें महान् ।
इनकी दीवारों की उठान, इनकी प्राचीरों की उडान ।
वह तेरी हड्डी पर किसान, वह तेरी पसली पर किसान ।
वह तेरी आंतों पर, किसान, नस की तांतों पर रे किसान ।

[१६६६]

ॐ

कलमजीवी पत्रकार नरोत्तम नागर

नरोत्तम नागर पचपन-छप्पन वर्ष की आयु तक कठिन पापड़ बेल-बेलकर अपनी कलमजीवी जिन्दगी का छकड़ा ठेलते हुए थक गए, बीमार हुए और मर गए। यह 'मर गए' शब्द दोस्तों के बीच हँसी-मजाक में कितने सहज भाव से इस्तेमाल होते रहते हैं, पर दोस्तों में से जब कोई एक सचमुच मर जाता है तब जीनेवालों के मनों पर जो बीतती है वह बखान से बाहर की अनुभूति है। नरोत्तम सन् '३३-'३४ में लगभग दिल्ली की एक फिल्मी पत्रिका 'रंगभूमि' के सम्पादक बने। मैं नया लेखक था, अपनी रचनाएं इधर-उधर छपने के लिए भेजा करता था, सम्पादकीय दफ्तरों में वे प्रायः खो जाया करती थीं। एक रचना 'रंगभूमि' के लिए नरोत्तम के पास भेजी। साथ में पत्र लिखा कि नया लेखक होने के कारण मेरी रचना अस्वीकृत तो होगी ही लेकिन आपके नागर होने के कारण मैं केवल इतनी सुविधा चाहता हूं कि आप उसे अस्वीकार करने के कारण मुझे अवश्य लिख दें। जवाब देने के लिए टिकट साथ भेजे।

पांच छः दिवसों के बाद नरोत्तम का पत्र आया। कहानी सराही। दूसरी भी मांगी और यह भी लिखा कि तुम नये लेखक हो तो मैं भी नया सम्पादक हूं। उसी समय से हम एक-दूसरे के मित्र हो गए। सन् '३६ के आरम्भ में दिल्ली जाने पर पहली बार उनसे मेरी भेंट हुई। संपादक की हैसियत से नरोत्तम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे नई प्रतिभाओं को पहचानने और उन्हें अपने काम के लिए जुटाने की कला में बड़े ही पटु थे। बड़े हंसमुख, पुरमज़ाक, कैरम के शौकीन, पान के गुलाम, किताबों के मजनूं।

सन् '३६-'३७ के लगभग ही नरोत्तम ने 'रंगभूमि' और 'चित्रपट', 'नवयुग' आदि पत्रिकाओं के मालिकों से ऊबकर मेरठ में अपना साहित्यिक मासिक पत्र 'संघर्ष' निकाला। एक या दो अंक निकले। फिर 'संघर्ष' को कांग्रेस सोशलिस्ट

पार्टी ने ले लिया। वह मासिक से साप्ताहिक बनकर मेरठ से लखनऊ आ गया। नरोत्तम उसके सम्पादक बने रहे। अब उनकी स्थिति मालिक से वेतनभोगी की हो चुकी थी। उन्हें पार्टी के नेताओं की नीतियों के अनुसार चलना पडता था। वे स्वाभिमानी थे, सिद्धान्तवादी और विचारशील व्यक्ति थे, इसलिए अक्सर पार्टी के अधिकारियों की हर बात से सदा सहमत होना उनके लिए बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त उनके स्वभाव में दुर्भाग्यवश एक दोष भी था जिसके कारण उन्हें बहुत कष्ट भोगने पड़े। दोष यह था कि नरोत्तम अपने मन के किसी अभाव के कारण लोगों की साधारण बातों का भी अक्सर बुरा मान जाते थे। एक दिन किसी बात पर तन गए। मेज पर अपना त्याग-पत्र लिखकर रखा और दफ्तर से बाहर आ गए।

संघर्ष कार्यालय हिवेट (वर्तमान शिवाजी मार्ग) पर था। रामविलास शर्मा (अब स्वनामधन्य डाक्टर) और नरोत्तम नागर उसीके आसपास रहते थे। हम तीनों का घना साथ था। फ्रायडवाद से लेकर समाजवाद तक से नई नई जान-पहचान हो रही थी। नरोत्तम फ्रायड के परम भक्त। कुछ दिनों तक रामविलास जी और मैं भी उनके मुरीद रहे। रामविलास जी खरगोश की चाल और मैं अंग्रेजी भाषा का कम अभ्यासी होने के कारण कछुए की चाल फ्रायडियन राह पर हिरन मार्का नरोत्तम जी के साथ दौड़ते रहे। खैर।

नरोत्तम जी के 'संघर्ष' सम्पादकत्व-काल के कुछ महीनों में हमारी दैनिक बैठकों ने हमें एक जान तीन कालिब-सा बना दिया था। नरोत्तम की नौकरी छूटी तो मैंने उनके साथ मिलकर एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करने की योजना बनाई। हास्य व्यंग्य का माध्यम ही हम मित्रों को रुचिकर लगा। अंग्रेजी राज में नई-नई कांग्रेस सरकार बनी थी। हमारा भी नया खून, नया जोश था। चकल्लसी दिन थे—दक्षिणपंथियों से लेकर वामपंथियों तक से छेड़ लेने में सुख मिलता था। कवि मित्र पढ़ीस जी के कविता-संग्रह 'चकल्लस' का नाम राम-विलास जी ने सुझाया और हम सबको पसन्द आ गया।

लगभग पौने दो साल हमने खूब चकल्लस की। शाम को यूनिवर्सिटी से पढ़-कर रामविलास जी मेरे यहां आते। निराला जी कभी प्रतिदिन और कभी हफ्तों बाद आते थे। पढ़ीस जी अक्सर आया करते थे। इनके अतिरिक्त मेरे तीन बाल-बंधु ज्ञानचन्द जैन, राजकिशोर श्रीवास्तव और स्व० गोविन्दबिहारी तरे भी

उस चक्लस गोष्ठी में सम्मिलित थे। हँसी व्यंग्य, बौद्धिक चर्चाएँ काम की योजनाएँ सभी रंग रहते थे। कभी-कभी नरोत्तम, रामविलास और मैं एक साथ एक योजना के अनुसार तीन प्रकार का मैटर लिखने बैठ जाते थे। वहीं लिखत, वहीं आलोचना होती और तत्काल नये सुधारों के बाद प्रेस मैटर चला जाता था। बाहर से अच्छा मैटर प्रायः न मिलने पर हम तीनों ही पूरा अंक अनेक उपनामों से लिख डालते थे। व्यक्तिगत रूप से मेरा यह सौभाग्य रहा कि रामविलास जी, नरोत्तम जी जैसे मित्रों के रूप में मुझे आलोचक बड़े तीखे और खरे मिले। इनसे होड़ लेने के लिए मुझे कठिन मेहनत करनी पड़ती थी। हम आपस में बहुत साफ थे। हम तीनों में कभी कभी खटक भी जाती थी। रामविलास जी से हमारी मुँह-फुलौवल कभी दस-पन्द्रह मिनटों से अधिक अवधि की नहीं हुई, किन्तु नरोत्तम रूठें तो दो-दो चार चार दिन हम लोगों से कटे रहे।

नरोत्तम केवल हास्य व्यंग्य के माध्यम ही से सन्तुष्ट नहीं थे। वे 'उच्छृङ्खल' नामक एक फ्रायडियन मासिक प्रकाशित करने के लिए भी मुझसे उकसा रहे थे। मैं उसके पक्ष में न था। यहाँ से वे उखड़े। एक दिन (निश्चय ही रविवार रहा होगा) सवेरे आठ बजे रामविलास जी और पढ़ीस जी आ गए। नरोत्तम जी को बुलवाया गया। दो बार आदमी भेजने पर आए। यह मूड था जैसे मालिक के बुलाने पर मातहत आया हो। मेरे एक साधारण से मजाक को उन्होंने भक ने इस रूप में लिया जैसे मालिक ने मजाक किया हो। तीखे व्यंग्यकार तो थे ही, नरोत्तम ने एक बेतुकी चुटकी ली। मुझे भी ताव आ गया कि इस मालिक मातहत की चकल्लस ही को अब न रखूँगा। मैंने तत्काल घोषित कर दिया कि मैं 'चकल्लस' का प्रकाशन बन्द करता हूँ। किस्सा खतम। 'चकल्लस' यों बन्द हुआ और तब हुआ जब कि जमाव पर आ चला था। खैर! नरोत्तम जी के साथ मेरा मैत्री भाव यथावत् बना रहा। रामविलास शर्मा भी उनके प्रति वैसे ही भाव रखते रहे।

नरोत्तम नागर आजीवन अपने से और जमाने से जूझते ही रहे। उनकी लड़ाई कभी गलत कभी सही भले ही रही हो लेकिन लड़वैया वह अन्त तक रहे। नरोत्तम अपने ढंग के एक ही आदमी थे।

[१९६८]

○ ● ○

द्वारा ... प्रेस, शाहदरा दिल्ली में मुद्रित।

११८३